सवालों के घेरे में डॉ. अमरेन्द्र

डॉ. मजाज़िर आशिक़ हरगानवी

डॉ. मनाज़िर आशिक़ हरगानवी
की हिन्दी में प्रकाशित पुस्तकें

१. प्रतिबिम्ब (कोहसार, भागलपुर १९९२)
२. डॉ. अमरेन्द्र की गजलों का आलोचनात्मक अध्ययन
(समय साहित्य सम्मेलन, पुनसिया १९९८)
३. सुहैल अजीमाबादी (साहित्य अकादमी, दिल्ली २०००)
४. लंदन यात्रा (निराली दुनिया पब्लिकेशन, दिल्ली २००२)
५. फिर कभी नहीं (माण्डवी प्रकाशन, गाजियाबाद २००३)
६. हिन्दी काव्य में ऋतु (निराली दुनिया पब्लिकेशन, दिल्ली २००७)
७. बिहार की भाषाएं (एजुकेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली २००८)
८. श्रेष्ठ हिन्दी कविताएँ(एजुकेशनल पब्लिशिंग हाउस,दिल्ली २००८)
९. कोशी कथा कोशी गीत (एजुकेशनल पब्लि. हाउस,दिल्ली२००९)
१०. सरापा सौन्दर्य ग़ज़लें(एजुकेशनल पब्लि. हाउस,दिल्ली २०१६)
११. युगल किशोर प्रसाद सवालों के घेरे में
(एजुकेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली २०१६)
१२. सवालों के घेरे में डॉ. अमरेन्द्र
(समीक्षा प्रकाशन, दिल्ली २०१६)

एवं

१३. मनाज़िर आशिक़ हरगानवी की सरापा सौन्दर्य ग़ज़लें : दृष्टि-परिदृष्टि
युगल किशोर प्रसाद (एजुकेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली २०१६)

सवालों के घेरे में डॉ. अमरेन्द्र

सवालों के घेरे में डॉ. अमरेन्द्र

डॉ. मनाज़िर आशिक़ हरगानवी

समीक्षा प्रकाशन
दिल्ली/मुजफ्फरपुर

ISBN : ९७८.८१.८७८५५.६३.७

प्रथम संस्करण
ई. २०१६

सर्वाधिकार ©
लेखकाधीन

प्रकाशक
समीक्षा प्रकाशन
जे. के. मार्केट, छोटी कल्याणी
मुजफ्फरपुर (बिहार)-८४२ ००१
फोन : ०९३३४२७९९५७, ०९९०५२९२८०१
E-mail : samikshaprakashan@yahoo.com
www. samikshaprakashan.blogspot.com

दिल्ली कार्यालय
आर-२७, रीता ब्लॉक
विकास मार्ग, शकरपुर, दिल्ली-९२
फोन : ०९९११४७८६६८

शब्द-संयोजन
सतीश कुमार

आवरण
www.flagofsouth.com से साभार

मुद्रक
बी.के. ऑफसेट,
शाहदरा, दिल्ली।

मूल्य
२००.०० (दो सौ रुपये मात्र)

Sawalon Ke Ghere Main Dr. Amrendra
By Dr. Manajir Ashiq Harganwi Rs. 200/-

पुरोवाक्

पिछले ढाई दशकों से मैं डॉ. अमरेन्द्र को जान-पहचान रहा हूँ । अगर इनके साहित्य को लेकर इस परिचय-काल को गिनूँ, तो यह और भी पीछे जायेगा। वैसे ढाई दशकों का काल भी कम नहीं होता है । इस बीच सैकड़ों बार की मुलाकात में मैंने अमरेन्द्र जी को बड़ी निकटता और गहराई से जाना-समझा है, जिस पर लिखना शुरू करूँ, तो यह एक पुस्तक का रूप ले ले, जो यहाँ मेरा उद्देश्य नहीं है । लेकिन इनके व्यक्तित्व के कई ऐसे पहलू हैं, जिसने मुझे इनसे लम्बी बातचीत के लिए प्रेरित किया ।

यूँ तो डॉ. अमरेन्द्र का नाम सामने आते ही एक ऐसे व्यक्ति का चित्र सामने आ जाता है, जिन्होंने अपनी मातृभाषा अंगिका की समृद्धि के लिए उस लोकप्रियता और प्रतिष्ठा को भी पीछे छोड़ दिया, जिन्होंने आपातकाल के दौरान अपनी हिन्दी गजलों और कविताओं के तेवर से हासिल किया था । प्रख्यात कथाकार कमलेश्वर जी ने भी अपने एक पत्र में इस ओर संकेत किया है । अंगिका में इनके विपुल साहित्य को देख कर जनसत्ता के पत्रकार प्रसून लतांत ने इन्हें 'अंगिका का अमृत पुरुष'

कहा था और लतांत जी की दी गई यह सम्मानोपाधि अब तो साहित्यकारों में भी लोकप्रिय हो गई है । उर्दू में मेरी लिखी पुस्तक 'अंगिका ज़बान : पस मंजर पेश मंजर' के समर्पण को जब अमरेन्द्र जी ने पढ़ा, तो उन्होंने दूरभाष पर मुझसे बड़ी विनम्रतापूर्वक कहा था, 'मनाज़िर साहब, आपने यह पुस्तक मुझे समर्पित की, यहाँ तक तो अच्छा लगा, लेकिन मेरे नाम के आगे 'अमृत पुरुष' का उल्लेख कैसा तो लगा। यह तो मेरे मित्र प्रसून लतांत ने यूँ ही कुछ मित्रों के बीच कह दिया था। क्या मैं अमृत पुरुष होने के लायक भी हूँ ?'

मैंने कहा, यह किसी ने यूँ ही भले कहा हो, या आप को यह लजाने वाला पद लगता हो, आप अंगिका के अमृत पुरुष ही हैं । अंगिका के लिए आप का संघर्ष और आप का अंगिका साहित्य दोनों मिल कर आपको अंगिका का अमृत पुरुष ही बनाते हैं ।

मैंने डॉ. अमरेन्द्र में एक खास बात देखी है कि जब कभी अंगिका को इनके योगदान के बारे में बताया, तो झट मेरी बातों को काटते हुए कहा, नहीं अंगिका यहाँ है, तो सुमन सूरो, डॉ. कामेश्वर शर्मा, गदाधर अम्बष्ठ, डॉ. परमानन्द पाण्डेय, डॉ. डोमन साहू समीर, डॉ. तेजनारायण कुशवाहा, नरेश पाण्डेय चकोर आदि विद्वानों के कारण है । ऐसे अवसर पर ये अपने कई मित्रों का नाम लेते हैं, और उनकी उपलब्धियाँ बताते हैं, लेकिन अपनी नहीं; ऐसा व्यक्तित्व मैंने बहुत कम देखा है । कई बार देखा है, कि पंक्ति में आगे बैठने या रहने की जगह ये सबसे पीछे खड़े या बैठे हैं । सबसे पीछे रहकर भी सबसे आगे दिखने वाले डॉ. अमरेन्द्र के व्यक्तित्व की कई ऐसी विशेषताएँ हैं, जिनके बारे में इनके मित्र कथाकार रंजन और शिव कुमार शिव ने बहुत कुछ लिखा है। बहुत कुछ सुना है इनके मित्रों से, कि किस प्रकार ये अपने मित्रों के साहित्य के लिए, अपने साहित्य से ज्यादा चिंतित रहते हैं । कभी चित्रशाला में बैठे साहित्यकारों से ही मैंने जाना था कि डॉ. प्रेम प्रभाकर ने, शिव कुमार शिव, रंजन, डॉ. योगेन्द्र ओर डॉ. अमरेन्द्र के लिए एक लम्बा और खास रेखाचित्र तैयार किया था, जिसमें डॉ. अमरेन्द्र के उस व्यक्तित्व को उजागर किया था, कि ये अपने साहित्य से अधिक बढ़िया अपने मित्रों के साहित्य को बनाते रहते हैं । यही बात मैंने उनसे पूछी,

तो अमरेन्द्र जी ने बड़ी गंभीरता से कहा, वह रेखाचित्र शिव कुमार शिव के यहाँ एक गोष्ठी में पढ़ा गया था, पता चला कि बाद में प्रभाकर जी ने उसे राँची के एक अखबार में प्रकाशित भी करवा दिया था। लेकिन उन्होंने उसमें जो कुछ भी मेरे लिए लिखा है, वह कितना सही है वही जानते हैं। साहित्यकार मित्रों को सुधारने की सलाह जरूर देता रहा हूँ, दबाव नहीं डालता। अब सही डॉ. अमरेन्द्र हैं, या डॉ. प्रेम प्रभाकर, यह तो यही दोनों जानें ।

मैंने डॉ. अमरेन्द्र के साथ इन्टरव्यू का इरादा इसलिए बनाया कि एक ओर जहाँ इनकी प्रशंसा करनेवाले दोस्तों में कई साहित्यकार शामिल हैं, तो सूने में शिकायत करने वाले साहित्यकार लोगों की भी कमी नहीं। एकाध बार तो मेरे सामने ही एक-दो ने ऐसी बातें कहीं कि मैं तिलमिला गया और यही जब मैंने अमरेन्द्र जी से कहा, तो वह मुस्कुरा गये । बस इतना ही कहा, 'चलिए कोई तो है, जो मेरी चर्चा कर रहा है, वरना मेरे दोस्त भी अब कहाँ मेरी चर्चा करते हैं । मैं तो यही समझता हूँ कि मेरी लोकप्रियता में अमित्रों की चर्चा का बहुत बड़ा हाथ रहा है। और फिर अगर मैं इनके पीछे लगा रहा, तो मेरे साहित्य, मेरे लक्ष्य की चिन्ता कौन करेगा ।'

डॉ. अमरेन्द्र अपने लक्ष्य की चिन्ता में लगे हुए हैं, बिना इसकी चिन्ता किए कि वे कौन-कौन हैं जो इन्हें गालियाँ दे रहे हैं, कौन-कौन तारीफ के पुल बाँध रहे हैं। चिन्ता है, तो उम्र के इस पड़ाव में आकर अपने बचे हुए साहित्य की सुरक्षा और एकाध ऐसे कामों की, जिन्हें ये अपने जीवन काल में पूरा कर लेना चाहते हैं । बातचीत के क्रम में ही मैंने जाना कि इनके मन में ढेर सारी बातें हैं, जिन्हें ये साहित्य के माध्यम से व्यक्त करना चाहते हैं, कुछ सोच कर ही मैंने इनके साथ साक्षात्कार की बात रखी, लेकिन यह साक्षात्कार किसी एक समय का नहीं है । यह टुकड़े-टुकड़े में मेरे पूछे गये सवालों के उत्तर हैं, कभी राह चलते मिल गये, या कभी चित्रशाला में अचानक मुलाकात हो गई, तब कुछ पूछ लिया । कभी इनके घर पर किसी काम से जाना हुआ, तब कुछ प्रश्नों के उत्तर मिल गये और कभी तो दूरभाष पर ही। इस तरह हो सकता है कि यहाँ प्रश्नों की क्रमबद्धता कुछ उखड़ी हुई-सी मिले । फिर

भी मैंने यह कोशिश की है कि साक्षात्कार को एक स्वाभाविक विकास का रूप मिल सके । बाद में जब 'नई धारा' के सम्पादक डॉ. शिवनारायण ने दूरभाष पर मुझसे अमरेन्द्र जी के साथ एक साक्षात्कार की मांग की, तो मूल प्रश्नावली के प्रारूप में और भी बदलाव हो गया, जो अच्छा ही हुआ ।

मेरा यह प्रयास आप सबों को कैसा लगा, बताएँगे । विद्वान पाठकों, आलोचकों की प्रतिक्रियाओं का मुझे इन्तजार रहेगा ।

सम्पर्क : 'कोहसार', भीखनपुर-३, भागलपुर ८१२००१ (बिहार)
मो. ०९४३०९६६१५६

—मनाज़िर आशिक़ हरगानवी

"साहित्य, जो मूल्यों का रक्षक है, उसका मूल्य समाज में कभी समाप्त नहीं होगा ।"

डॉ. हरगानवी : आप का पूरा नाम ?

डॉ. अमरेन्द्र : अब पूरा नाम कहाँ ! अब तो जो सिमट कर रह गया है, उसे ही पूरा नाम कहिए, यानी अमरेन्द्र या फिर डॉ. अमरेन्द्र । मुझे याद है, मैंने कभी भी अपना नाम अमरेन्द्र कुमार सिन्हा नहीं लिखा। डिग्रियों पर भले ही यह नाम हो । अमरेन्द्र कुमार सिन्हा से डॉ. अमरेन्द्र होने की भी एक कहानी है । कविताएँ लिखनी शुरू की, तो अपना उपनाम रखा 'घायल' । वर्षों तक 'घायल' ही रहा, अमरेन्द्र कुमार 'घायल' । फिर घायल हटा, तो कुमार भी हट गया । यह 'कुमार' कथाकार कमलेश्वर के कहने पर हटाया था, जब मैं समांतर कथा-आन्दोलन से जुड़ा। बाद में साहित्यकार आनन्द शंकर माधवन ने कहा, अमरेन्द्र तो बहुत छोटा नाम लगता है, अच्छा होगा कि तुम अपना नाम अमरेन्द्र 'अमर' कर लो। एकाध बार लिखा भी, इस नाम से छपा भी । फिर इस उपनाम को भी छोड़ दिया और पी. एच. डी. करने के बाद मैं डॉ. अमरेन्द्र हो गया । अब तो मेरा नाम ही डॉ. अमरेन्द्र हो गया है । वैसे मैं आपको यह भी बता दूँ कि मेरे छद्म नाम भी कई हैं—डॉ. निर्दलीय के नाम से अगर समीक्षाएँ करता था, तो डॉ. अक्स के नाम से अनुवाद भी करता रहा और जरूरत पड़ी, तो श्रीज्ञान संभूति के नाम से भी कुछ लिख लिया।

डॉ. हरगानवी : आपके पिता का नाम ?

डॉ. अमरेन्द्र : वंशावली में मेरे पूर्वजों के जो नाम मिलते हैं, उनकी जाति सूचक उपाधि में सिंह शब्द मिलता है, इसी कारण मेरे पिता जी अपना नाम नरसिंह प्रसाद सिंह ही लिखा करते थे, और यही उनका नाम था ।

डॉ. हरगानवी : आप कब पैदा हुए ?

डॉ. अमरेन्द्र : इसका उत्तर देना बड़ा कठिन लगता है । मेरे जन्म की सही-सही तारीख ईश्वर की तरह अबुझ है, ईश्वर के बारे में जैसा संत-भक्त बता देते हैं, वही लोग मानने लगते हैं । बस वैसा ही समझिए कि एक बार पिताजी ने एक आवेदन पत्र पर मेरे जन्म की तारीख पाँच जनवरी उन्नीस सौ उनचास लिख दी, और मैंने उसे ही सच मान लिया। लेकिन माँ से जो बातें मैंने सुनी हैं, उससे मेरे जन्म का महीना जनवरी नहीं, मार्च का मध्य या आरम्भ रहा होगा । माँ ने बताया था कि जब मेरा जन्म हुआ, उस समय गाँव के मेरे घर के छप्परों पर सिर्फ पके हुए कुम्हड़े ही बिछे दिखाई देते थे पुआल नहीं। साफ है, वह वसन्त का समय रहा होगा । जहाँ तक सन्, ई. का सवाल है, वह सन् उन्नीस सौ उनचास ही सही लगता है । वैसे आश्चर्य भी नहीं कि इसमें भी पिताजी ने एकाध वर्ष घटा-बढ़ा दिया हो ।

डॉ. हरगानवी : लेकिन जन्म स्थान तो जानते ही होंगे ?

डॉ. अमरेन्द्र : निस्सन्देह । होश संभाला, तो गाँव के आँगन, देहरी, बगीचे, नदी किनारे खेलते-घूमते ही अपने आप को पाया , तब अपनी जन्म डीह को कैसे भूल जाऊँ । भागलपुर से दक्षिण, लगभग १५ मील की दूरी पर खिड्डी मोड़ है, अब उसे लोग राजावर मोड़ भी कहने लगे हैं, वहीं से पश्चिम की ओर एक रास्ता खुलता है, जो कई गाँवों को पार करते रुपसा तक पहुँचता है, लगभग दो मील के बाद यही मेरा गाँव है । रुपसा में मेरे बचपन के बस चार या पाँच साल बीते होंगे । फिर शहर आया, तो कभी गाँव का मुँह नहीं देख सका । एक बार शहीद महेन्द्र गोप की जानकारी के सिलसिले में भदरिया गाँव गया था, तो अपना गाँव होते ही भागलपुर लौटा था, ऐसा लगा था कि मेरा बचपन एकदम मेरे सामने खड़ा हो, मुझमें मेरा बचपन समा गया था । सच

पूछिए तो मैं शहर में रह कर भी अपने गाँव को कभी नहीं भूल पाया । अपने जन्म-स्थान रुपसा के लिए कई-कई कविताएँ लिखी हैं । मेरा गाँव, मेरी शिराओं में लहू की तरह बजता है ।

डॉ. हरगानवी : एक कविता सुनाना चाहेंगे ?

डॉ. अमरेन्द्र : अवश्य। मेरे गाँव को एक सॉनेट में सुनिए,

चानन-तट पर बसा हुआ यह मेरा ही है गाँव
जिसका दिन था वासमती और रात कतरनी गमगम
जिसका तपता ग्रीष्म (जेठ) भी सावन का था झम-झम
किस आंधी से जख बाबा के उखड़ गये हैं पाँव ?
इसको थी कंठस्थ कहानी : बिहुला, दुलरा, गोपी
लोरिक, हिरनी-बिरनी, लचिका, महुआ, बिसु, सलेश
बिरजाभार, नयकवा, राजा ढोलन, कथा अशेष
एतनै नै दीना भदरीयो आरो ढेर अलोपी ।
इसी अंगिका में सतयुग भी, त्रेता इसका बीता
कलयुग में आते-आते इसका दम फूल रहा है
किसका है कंकाल बड़ा बरगद से झूल रहा है
कहीं नहीं रामायण का स्वर, कहीं नहीं है गीता ।
मेरा गाँव मिला है मुझको कर में लिये धुपौड़ी
भगत भेष में मुंह में रक्खे एक बड़ी-सी कौड़ी ।

डॉ. हरगानवी : बहुत खूब, लाजवाब । क्या इसी गाँव में आपकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा भी हुई ? बताएँ ।

डॉ. अमरेन्द्र : बचपन की शिक्षा तो गाँव में ही हुई, यानी अक्षर-ज्ञान और गिनती गिनना तो उसी स्कूल में हुआ, जो गाँव के दुर्गास्थान के बरामदे में चला करता था । हाथ में छड़ी लेकर गुरु जी कुर्सी पर डोलते रहते और हमलोग कंठ फाड़-फाड़ कर उन्हें गिनाते सुनाते रहते । छुट्टी होती, तो स्लेट पर खड़िया से लिखे अक्षरों को दायें हाथ से मिटाता, और माथे पर उसे यहाँ-से-वहाँ तक पोत कर घर पहुँचता, अपनी पढ़ाई का सबूत देते । जब गाँव से भागलपुर आया, तो आरम्भिक पढ़ाई, मुंदीचक के एक प्राइमरी स्कूल में हुई, गढ़ैया के पास होने के कारण हमलोग इसे गढ़ैया स्कूल ही कहते थे । पाँचवी तक की पढ़ाई वहाँ

से ही की । फिर आगे का स्कूल नहीं देखा । पिता जी डुमरामा उच्च विद्यालय में शिक्षक थे, वहीं मेरा नाम दर्ज हो गया, और घर में पढ़ाई होती रही । ऐसे में पढ़ाई क्या होनी थी। पिता जी स्कूल जाते, और दोस्तों के साथ मेरी आवारागर्दी शुरू होती । नतीजा मैट्रिक में पास तो हो गया, लेकिन तृतीय श्रेणी से ।

डॉ. हरगानवी : फिर तो अच्छे कॉलेज में नामांकन नहीं हो पाया होगा ?

डॉ. अमरेन्द्र : नहीं ही होता, लेकिन हो गया । टी. एन बी. कॉलेज में मेरे चाचा रिपुसूदन सिन्हा गणित के प्रोफेसर थे, उनकी प्रतिष्ठा भी वहाँ खूब थी, और मेरी जिद थी कि पढ़ूँगा तो टी. एन. बी. कॉलेज में ही । फिर क्या था, नामांकन हो गया, लेकिन पढ़ने में जी नहीं लगता, जितना दोस्तों के साथ, वहीं एकान्त में बैठे गप्पे हाँकना, हँसी दिल्लगी करना या गीत गाने में । नतीजा यह हुआ कि इन्टरमीडिएट में भी तृतीय श्रेणी ही हाथ लगी। घर के लोग दुखी थे, खास कर पिताजी, लेकिन मैं खुश था कि फिर इसकी परीक्षा नहीं देनी पड़ेगी । टी. एन. बी. का छात्र था, तो बी. ए. प्रीवियस में नामांकन भी हो गया, होना ही था । तब तक कॉलेज में कुछ अच्छे मित्रों की संगति हो गयी थी, तो मेरे परीक्षाफल पर भी उसका असर पड़ा । बी. ए. प्रीवियस में मैं द्वितीय श्रेणी से उत्तीर्ण हुआ था । यहाँ तक कि अंग्रेजी में भी इतने अंक मिले थे, कि मैं अंगेजी में आनर्स का विद्यार्थी बन सकता था, और पिताजी ने मन से यह सोच भी लिया था, लेकिन तभी पिताजी पूरा परिवार लेकर बाँका चले गये । बड़े भाई भूपेन्द्र कुमार सिन्हा पी. बी. एस. कॉलेज में हिन्दी के व्याख्याता बन कर आ चुके थे और मेरा नाम उसी महाविद्यालय में लिखा दिया गया। सन् १९७० ई. में मैंने उसी महाविद्यालय से हिन्दी प्रतिष्ठा के साथ स्नातक की परीक्षा पास की । जब भागलपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग का छात्र बना, तो मेरी शादी हो गयी। ससुराल क्या मिली, भागलपुर में रहने की एक जगह मिल गयी और फिर वही पुराने दोस्त हाजिर हो गये । अतीत औघड़ की तरह जाग गया । पढ़ाई छूटी, परीक्षा के लिए फार्म भरे, लेकिन परीक्षा नहीं दी । अब साहित्यगिरी का भूत भी सर पर सवार था । यह नशा इस कदर चढ़ गया था कि सम्मेलनों-गोष्ठियों

से जैसे फुर्सत ही नहीं थी । शायद पत्नी की जिद पर १९७९ ई. में मैं एम. ए. की परीक्षा में शामिल हो गया । जिस दिन जिस पत्र की परीक्षा होती, उसके एक दिन पूर्व से उस पत्र से संबंधित पुस्तकों की खोज होती। रात भर उन्हें पढ़ता, और दूसरे दिन परीक्षा में शामिल हो जाता। यहाँ मैं द्वितीय श्रेणी से इसलिए निकल सका, कि इसके लिए मैंने एक अलग कूटनीति अपनाई थी । तब तक मैं उर्दू लिपि में लिखना-पढ़ना भी जान गया था, बंगला लिपि भी जानता था । कॉपी पर मैं जिस प्रश्न का उत्तर लिखता, उसी को उर्दू लिपि में लिखता, फिर बंगला में भी, और उन वाक्यों के लेखक के रूप में डॉ. मुहम्मद सलीम, डॉ. मुहम्मद जावेद, डॉ. कमल मुखर्जी, डॉ. गोकुल बान्धोपाध्याय जैसे नामों का उल्लेख कर देता। अलग-अलग पत्रों की कॉपियाँ अलग-अलग परीक्षकों के पास जानी थीं। निस्सन्देह उन परीक्षकों पर मेरे विविध भाषाज्ञान और विशद अध्ययन की धाक जमनी ही थी । यही हुआ भी । और जहाँ मेरे पास करने की संभावना शायद ही थी, मैं द्वितीय श्रेणी के साथ उतीर्ण हुआ । एम. ए. किया, तो गुरुदेव डॉ. विजेन्द्र नारायण सिंह के कहने पर, उन्हीं के निर्देशन में, पी. एच. डी. की उपाधि भी भागलपुर विश्वविद्यालय से प्राप्त की । यह उपाधि मुझे सन् १९८६ में मिली ।

डॉ. हरगानवी : आपकी पसन्द के शिक्षक ?

डॉ. अमरेन्द्र : स्कूल के ऐसे एक भी शिक्षक नहीं । जब मुंदीचक के प्राइमरी स्कूल में पढ़ता था, तब वहाँ के एक शिक्षक ने मेरी कनपट्टी पर ऐसा कसा थप्पड़ जड़ा था कि चीखें मारता हुआ घर पहुँचा था । घर और स्कूल का फासला सड़क के आर-पार का था । उस मार को मैं अपनी कविताओं में भी नहीं भूल पाया । हाँ, उस मार से एक फायदा हुआ कि पिताजी ने स्कूल जाने से मुझे रोक दिया । कॉलेज में आया, तो कई विद्वान शिक्षक मिले, जिनमें डॉ. हरि दामोदर भी एक थे । एम. ए. का छात्र हुआ, तो अनेक विद्वान शिक्षकों से पढ़ने का अवसर मिला । डॉ. वीरेन्द्र श्रीवास्तव, डॉ. शिवनन्दन प्रसाद, डॉ. राधा कृष्ण सहाय, डॉ. गौरी शंकर मिश्र, डॉ. शिवशंकर प्रसाद, डॉ. विजेन्द्र नाराणय सिंह । एक से एक बढ़कर विद्वान, लेकिन इनमें विजेन्द्र नारायण सिंह मेरे बहुत आदरणीय रहे । मेरे प्रति उनका स्नेह भी किसी गुरुकुल के शिक्षक से

कम नहीं रहा । कमियाँ किसमें नहीं होतीं, लेकिन उनका व्यक्तित्व कितना विराट था, आप इस घटना से ही समझ सकते हैं । उन दिनों मैं ससुराल में ही रहता था, और गुरुदेव विजेन्द्र जी मंदरोजा स्थित एक किराये के मकान में । मैं प्रायः भीखनपुर से मंदरोजा पहुँचता । तब एक गोष्ठी बनी थी, जिसके संयोजक थे गुरुदेव और मैं सह संयोजक । पहली विचार गोष्ठी में डॉ. कुमार विमल को बुलाने की बात तय हो गयी थी, इसी सिलसिले में मैं गुरुदेव से प्रायः मिलने आ जाता । एक दिन उनके सामने एक लिफाफा रखा देखा । पूछने-पाछने की औपचारिकता बिना निभाए लिफाफा खोला और पढ़ गया । गुरुदेव से एक निबंध की माँग किसी परिषद पत्रिका के सम्पादक ने की थी । मेरे यह पूछने पर कि समीक्षा परिषद् को भेज दी गयी है क्या ? तो उन्होंने कहा, समय नहीं मिल पाता लिखने का । इस पर मैंने कहा, मैं लिख दूँगा, आप बोलते जाएं, और क्या । मेरी बातें सुनीं, तो वह खुश हो गये । कहा, शाम को चले आओ, यहाँ रात को रुक जाना, तब तो परिषद को आलेख भेज ही दूंगा । मैं निश्चित रूप से आने की बात कह कर भीखनपुर लौट आया, और संध्या डूबने के बाद गुरुदेव के डेरे पर पहुँच गया । रात को वहीं रुकना था, तो सबेरे क्या पहुँचना था । उस समय लगभग रात के आठ बज रहे होंगे । उन्होंने कहा, पहले हमलोग खा लें, तो निश्चिन्त होकर और काम होगा । डेरे में एक नौकर था, जिसका नाम शायद नेपाली था, उसके सिवा कोई और नहीं था । उसी ने दो थालियाँ लाई थीं। थालियों में रोटियाँ और दो किस्म की सब्जियाँ । दूध भी आया था । खाना खत्म हुआ, तो गुरुदेव अपनी थाली ले कर बाहर निकल आये थे, लेकिन मैंने तो अपनी आदत के मुताबिक थाली में ही हाथ धोया था, भीगी हथेली से मुँह पोछा था, फिर और रूमाल से हाथ-मुँह पोछ कर खाट पर पुनः जम गया था । तभी गुरुदेव वहाँ आये थे, उन्होंने मेरे आगे पड़ी मेरी थाली और कटोरे को उठाया था और उन्हें बाहर रखने के लिए निकल गये थे । यह देखकर मेरी स्थिति तो मत पूछिए । एकदम काठ समझिए, पत्थर की मूर्ति । मैंने तो यही समझा था कि नौकर थाली ले जायेगा, लेकिन बात कुछ और हो गयी थी । मेरी उस मानसिक दशा को उन्होंने तुरत भाप ली थी । कहा था, 'कुछ मत सोचो, थाली तुम उठाते या मैंने

उठाई, अन्तर क्या है । 'लेकिन गुरु की बातों से मैं सामान्य नहीं हो सका, और मेरी स्थिति को समझते हुए उन्होंने कहा था—लेख कुछ लम्बा है, और खाने के बाद लिखना-पढ़ना ठीक नहीं । सो जाओ, सुबह काम होगा । लेकिन मनाजिर साहब, मैं क्या बताऊँ, उस रात मैं ठीक से सो न सका । सुबह तक मेरे चेहरे पर परेशानी रही थी । सुबह में उन्होंने क्या लिखाया, और मैंने क्या लिखा, मैं नहीं बता सकता । लेकिन उस घटना ने मेरे मन पर गुरुदेव के लिए जो अमिट और भव्य छाप छोड़ी, वह अब तक उसी रूप में है, कहीं कोई धूलकण भी नहीं है, उस पर ।

डॉ. हरगानवी : आप अपने बचपन के बारे में कुछ बतायेंगे ? आप का बचपन कैसे गुजरा ?

डॉ. अमरेन्द्र : मेरे बचपन का ऐसा कोई पक्ष नहीं, जैसा कि किसी महान पुरुषों के बारे में कहा जाता है । निस्सन्देह, मैं एक प्रतिष्ठित, कुलीन और संस्कृति सम्पन्न परिवार में जन्मा था, लेकिन मेरा संस्कार उससे भिन्न था। न पढ़ने में मन लगता, और ना माता-पिता, बड़े भाई, बहनों के अनुशासन को मानता था । शैतानियों की कोई सीमा नहीं थी, इसी से बड़े भाई तक मुझ पर हाथ उठाने से डरते थे । हाँ, पिताजी से मैं भयभीत रहता । इसका एक कारण था, कि मैंने बड़े भाई को पिताजी से बुरी तरह पिटते, मार खाते देखा था, यह बात तब की है जब मैं ढाई-तीन वर्ष का रहा होगा । पढ़ाने के समय पिताजी बहुत क्रूर हो जाया करते, तब वह अन्य छात्र या अपनी सन्तान में फर्क नहीं करते । उस मार को देख कर मेरे मन में जो भय समाया था, वह तब तक समाया रहा, जब तक मैं कॉलेज का छात्र ना बन गया। आप को बताता हूँ, पढ़ाई को लेकर एक बार पिताजी से मैं बुरी तरह पिट गया था । यह बात मुन्दीचक की है । तब मेरी उम्र ही क्या थी । पिताजी ने मुझे अंग्रेजी की पुस्तक 'द गुड एण्ड द ग्रेट' थमा दी थी, कई महान पुरुषों की जीवनियाँ थीं उसमें । मुझे गाँधी जी को रट जाने का आदेश मिला था। अब आप ही सोचिए, जिस लड़के के दिमाग में गुलेल की हनहनाती गोलियाँ और गिल्ली-डंडा का खेल घूमता रहता था, उसे गाँधी जी क्या याद रहते । स्कूल से पिताजी लौटे थे, शाम को पढ़ाई में पूछना शुरू किया था, गाँधी जी का जीवन तो क्या, उनका पूरा नाम भी याद नहीं

आ रहा था । पिताजी पूछते गये थे, और मैं अपना सर नीचे किए, उनकी मार खाता रहा था। उन्हें शायद इसके लिए भी गुस्सा आ रहा होगा, कि उनसे इतनी मार खाने के बाद भी मैं छटपटा नहीं रहा था, रो भी नहीं रहा था । रोता क्या, मैं तो उस मार से बचने के लिए कोई स्थायी रास्ता खोज रहा था। और आखिर दूसरे दिन घर छोड़ कर भाग निकला । मैंने उस घटना को अपने अंगिका बाल उपन्यास 'बंटा' में घुमा-फिरा कर लिख दिया है । बंटा के पढ़ाकू स्वभाव को हटा दें, तो बाकी उसके सारे अवगुण मेरे हैं । आज मैं आपको पूरे विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि मेरा बचपन कुलीन परिवार के उन बच्चों के बचपन की तरह नहीं गुजरा, जो किसी कीमती कैनवास पर महान चित्रकार के कीमती पोट्रेट की तरह होते हैं, मेरा बचपन तो खेत में मजदूरी करने वाले उन खेतिहर मजदूर के बच्चों के बचपन-सा बीता है, जिसके पास खुले आकाश, खुली हवाएँ, विस्तृत और सिमटी गंगा के कछार, माटी, धूल के मजारें और धधकती चिताओं की स्मृतियाँ होती हैं । आज भी भागलपुर की गलियों में, गंगा के कछारों पर, मसान के टीलों पर, लाजपत पार्क से लेकर सैंडिस कम्पाउण्ड के मैदानों में मेरा बचपन सावन-भादो के बादलों की तरह उमड़ता, गरजता, बरसता है।

डॉ. हरगानवी : आपने कहीं नौकरी की ?

डॉ. अमरेन्द्र : मन ही नहीं लगा, नौकरी में । डुमरामा के महाशय द्वारिकानाथ उच्च विद्यालय में पिताजी शिक्षक थे । उस समय स्कूल के सचिव और शिक्षा पदाधिकारी ही सब कुछ हुआ करते थे, तो उसी स्कूल का मैं शिक्षक भी बन गया । बी. ए. तो कर ही चुका था । लेकिन बँधे हुए जीवन से मैं बँध ना सका । पिताजी ने चाहा कि कहीं दूसरी नौकरी कर लूँ । उस समय बोकारो स्टील प्लान्ट का बहुत बोलबाला था, और उसी में कार्यरत थे मेरे चाचा अनन्त कुमार सिन्हा । उनका बोलबाला भी कम नहीं था । पिता जी ने उन्हीं के पास भेज दिया, उन्होंने आनन-फानन में आरम्भिक काम करवा दिया और बताया कि हफ्ते भर बाद एक छोटी-सी परीक्षा होगी, टंकण कला में दक्षता की, लेकिन उसकी चिन्ता नहीं करनी है । मैं बोकारो से बाँका लौटा । रास्ता भर सोचता आया कि इस क्लर्क की जिन्दगी में तो मेरा जीवन गया ही समझो । सो

आते ही घर में पिताजी से कह दिया, 'चाचा ने कहा है, वैकेन्सी निकलेगी, तो सूचित करूँगा ।' पिताजी ने आगे पूछताछ नहीं की । मुझे आनेवाले बंधन की विपत्ति से मुक्ति मिल गई थी। और आखिर में एक नौकरी मिल गई, मेरे मन के बिलकुल अनुकूल, एक नये महाविद्यालय में हिन्दी व्याख्याता के रूप में मैं ले लिया गया, जहाँ वेतन तो नहीं था, लेकिन इसके बाद सब कुछ था, जो किसी सरकारपोषित महाविद्यालय में भी शायद ही मिले । तब इस कॉलेज को कोई अपना भवन भी नहीं था, लेकिन डॉ. उमेश राय, व्याख्याता शशिभूषण सिंह खड़गाहा, व्याख्याता प्रमोद चट्टोपाध्याय, व्याख्याता चक्रधर प्रसाद सिंह, व्याख्याता अवधेश सिंह, व्याख्याता अभय सिन्हा, डॉ.व्याख्याता धनंजय मिश्र रत्नेश्वर प्रसाद चौधरी के आत्मीय सहयोग और गंभीर विषयों पर वाद-विवाद-संवाद ने कभी किसी चीज की कमी का अनुभव ही नहीं होने दिया । हमलोगों के जो सचिव थे, सोना बाबू, यानी तेगबहादुर सिंह, उन्होंने कभी अपने व्यवहार से यह अनुभव ही नहीं होने दिया, कि वह सबलपुर स्टेट के जमींदार हैं । मुझे और क्या चाहिए था । यही कारण है कि भागलपुर के एक महाविद्यालय में जब हिन्दी व्याख्याता की जरूरत हुई और मेरे गुरुदेव डॉ. शिवनन्दन प्रसाद (अलवर्ट अली कृष्ण) ने आवेदन दे देने का आदेश यह कहते हुए दिया कि मैंने तुम्हारे बारे में एक्सपर्ट को बता दिया है, सब ठीक हो जायेगा, फिर भी मैंने कोई कोशिश नहीं की । सच तो यही है कि सी. एन. डी. महाविद्यालय में आने के बहुत पूर्व से ही मुझे मन्दार क्षेत्र बहुत प्रिय था । बौंसी में साहित्यकार प्रो. कृष्ण किंकर सिंह थे, आनन्द शंकर माधवन थे, प्राण मोहन प्राण थे, महाविद्यालय में आया, तो बौंसी में नये साहित्यकारों का मंडल बना । द्विजेन्द्र राष्ट्रभाषा परिषद् बनी, मैं उसका अध्यक्ष था, और प्राण जी उसके महासचिव । 'समय' पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हुआ । अनूप जी उसके सम्पादक बने । डॉ. विजय सिंह, मिथिलेश झा, कालिकानन्दन झा, विमल चन्द्र दास जैसे साहित्यकार सामने आए । पन्ना दा के सहयोग ने उत्साह के झेलम को गंगा-गोदावरी बना दिया था । हरगानवी साहब, आप सोच भी नहीं सकते कि कोई वेतन के बिना शिक्षा और संस्कृति का महादान इस महाआर्थिक युग में करेगा, लेकिन हमलोगों ने किया है । आप अगर इसे

नौकरी करना कहेंगे, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं ।

डॉ. हरगानवी : आपने अपने पिता जी, भाई के बारे में तो जानकारियाँ दीं, लेकिन माँ के बारे में कुछ नहीं बताया । क्या माँ के संबंध में भी कुछ कहना चाहेंगे ?

डॉ. अमरेन्द्र : मेरी माँ मेरे पिताजी के एकदम विपरीत थी । रूप में भी, गुण में भी । राजघराने की किसी कुलीन स्त्री की तरह मैंने उन्हें कभी भी बहुत अधिक बोलते नहीं सुना । किसी ने पूछा, तो जरूरत भर कह दिया, अतिरिक्त कुछ भी नहीं । कुछ देर तक बातें करते देखा, तो बड़ी पीसी माँ के साथ। ऐसा नहीं था कि पिताजी उग्र स्वभाव के थे । कम-से-कम ऐसा तो मैंने नहीं देखा । कभी उन्हें किसी बात के लिए गुस्सा होता, तो दिन भर या फिर दो दिनों तक अन्न को छोड़ देते । तब माँ के लिए बड़ा कठिन समय होता था । यह बात मैंने अपनी शादी के बाद भी देखी थी । घर में बड़े भाई का परिवार था । छोटी बहनें थीं। पिताजी गुस्साते, तो घर से बाहर बरामदे में ही लेटे-पड़े रहते और घर से बाहर घर की स्त्रियों को आना मना था । माँ उस भरे-पूरे परिवार के बीच पिताजी को भला किस प्रकार मना सकती, तब उनका भी उपवास शुरू हो जाता । मैंने माँ को कभी खुलकर हँसते हुए भी नहीं देखा, शायद घर में अच्छा-सा खाना बनाने का ही भार भर उस पर था, जिसे वह मन से उठाती भी थी। माँ के विरोध और गुस्से में भी बहुत शालीनता थी, उसकी हँसी में जो कुलीनता थी, वैसी मैंने आज तक कभी नहीं देखी । आज मैं उसे याद करता हूँ, तो स्मरण आता है कि वह धीरे-धीरे किस तरह अन्तरमुखी होती चली गयी थी, इतनी अन्तरमुखी कि जैसे सब कुछ देख कर भी वह कुछ नहीं देख रही हो । यहाँ तक कि पिताजी जब कैंसर से पीड़ित हो गये, तब भी मैंने माँ को किसी सामान्य स्त्री की तरह रोते नहीं देखा, हाँ इतना और हुआ था कि वह धीरे-धीरे संगमरमर की मूर्ति बन गयी थी । मैं तो कभी-कभी ही पिताजी को देखने बाँका पहुँचता, लेकिन विभा प्रत्येक शनिवार को पिताजी की सेवा में भागलपुर से बाँका पहुँच जाया करती, उनके घाव को साफ करती और वह सब कुछ, जिसे मुझे या मेरे बड़े भाई को करना था, या फिर माँ को । लेकिन करती थी विभा या मेरी छोटी बहन रामा, जो उस समय तक अविवाहित थी ।

उसका विवाह जब हुआ, तो कुछ दिनों के बाद ही पिताजी की आखिरी साँसे भी उखड़ गईं । और फिर विपरीत परिस्थितियों के बावजूद विभा माँ को लेकर भागलपुर चली आई थी। माँ ने भी दम तोड़ा, तो भागलपुर में ही । लेकिन कभी-कभी वह बाँका जाने की बात करती, तो लगता, वह उस घर को फिर देखना चाहती थी, जहाँ से माँ के सुहाग की अर्थी चुपचाप उठी थी । मैंने माँ को कभी भी पिताजी से बातें करते नहीं देखा। कभी-कभी उनके आगे खाने की थाली को रखते देखा हो, तो देखा हो । तब की परिस्थितियाँ ही कुछ ऐसी थीं । लेकिन पति के प्रति माँ के हृदय में कैसा अनुराग, कैसा विश्वास रहा होगा, इसे आप इन बातों से ही समझ सकते हैं—पिताजी की मृत्यु हो चुकी थी । उनके पेंशन का पैसा माँ को मिलने लगा था । माँ मेरे साथ भागलपुर में रहने लगी थी, कुछ वर्ष बीत जाने के बाद, माँ ने एक दिन विभा से कहा, कि 'हुनि रात कें ऐलों छेलौं, कही रहलों छेलौन कि पेंशन के पैसा बढ़ी गेलों छै, आबें तोरा पहिलका सें ज्यादा पैसा मिलथौं ।' और जब विभा माँ को लेकर बैंक पहुँची, तो आश्चर्य, पेंशन की रकम साढ़े तीन सौ से बढ़कर साढ़े चार सौ हो गयी थी । यहाँ मैं आपको बता दूँ कि माँ बिलकुल निरक्षर थी, वह किसी से मिलती भी नहीं थी । पेंशन की बात तो विभा और मैं जानता था । पेंशन का पैसा बढ़ गया है, उसने कैसे जाना ? यह एक बार की घटना नहीं है, पेंशन के पैसे में दो बार बढ़ौत्तरी हुई, और दोनों ही बार उसने विभा को बुला कर कहा था 'हुनी राती फेनू ऐलों छेलौं, कहलकौन, पेंशन के पैसा फेनू बढ़ी गेलौं छौं ।' और रकम सचमुच में साढ़े चार सौ से छः सौ हो गई थी । हरगानवी साहब, मैं आप से कह दूँ कि मैं किसी चमत्कार में विश्वास नहीं करता, लेकिन कभी-कभी सोचता हूँ कि आखिर यह सब कैसे ? सन् १९९७ के दिसम्बर के वे आखिरी दिन थे । प्रलय की ठंड थी । धूप की एक बूंद नहीं गिर रही थी, लेकिन जिस दिन माँ मरी यानी २८ दिसम्बर को, उस दिन अचानक ही धूप खिल आई थी । मन ऐसा खिला, कि मैं साइकिल लेकर श्रीकेशव के यहाँ जा पहुँचा, कुछ सत्संग हो जाए, लेकिन वह व्यस्त था, तो मैं लौट आया। एक अन्य साथी राम शर्मा अनल के पास जा पहुँचा, लेकिन वे भी काम में व्यस्त थे, और मैं घर लौट आया । घर लौटा, तो माँ की अर्थी

सज चुकी थी । मेरे बड़े दामाद ने उसी दिन नया ऑटो रिक्शा घर में लाया था । उसी पर माँ की अर्थी रखी गयी और श्मशान पहुँच गये । मैंने मुखाग्नि दी, और तब तक धूप रही, जब तक मैंने गंगा स्नान नहीं किया । ठीक उसके एक दिन पूर्व गंगा में स्नान से दो-तीन लोगों के मरने की खबर मिली थी । मैं भीगी चादर में लिपटा घर लौटा था, और फिर अचानक ही मौसम क्रूर हो गया था । प्रेत की तरह ठंड बढ़ गई थी । धूप तो उस दिन बिखरी, ठीक उसी दिन, जिस दिन माँ का अन्तिम श्राद्धकर्म होना था। खुले खेत में श्राद्ध का कर्म हुआ था, भोज भी। उस रात मुझे कैसे-कैसे स्वप्न आते रहे थे; मैं विप्रों को मधुदान कर रहा हूँ, माँ सात नदियों के संगम पर बैठी मुस्कुरा रही है, मैं नदियों पर चलते हुए माँ के पास पहुँचा हूँ । मैं आज तक इन स्वप्नों का अर्थ नहीं समझ पाया हूँ। माँ से जुड़े स्वप्न हैं न, इसी से कभी तर्क नहीं किया, न करना चाहता हूँ । आज मेरे साथ मेरी माँ नहीं है । होती, लेकिन शायद वह जीना नहीं चाह रही थी । उसे उच्च रक्तचाप की बीमारी थी, लेकिन मेरे वैष्णव क्रोध के बावजूद दवा नहीं लेती, उसे मोतियाबिन्द की बीमारी हो गयी थी, लेकिन ऑपरेशन के लिए तैयार नहीं थी, विभा के बहुत समझाने-बुझाने के बाद भी । वह इन बीमारियों के कष्ट उठा रही थी । एक बार की बात है, मैं अपने कमरे में था, मेरे बच्चे बरामदे में बैठे खेल में व्यस्त थे और विभा रसोईघर में । माँ अपने कमरे के पलंग में बैठी थी, कि तभी जोर की आवाज आई । वह आवाज किसी चीज के गिरने की थी। सभी के मन में एक ही आशंका उठी, माँ पलंग से गिर गई है। विभा दौड़ी, मैं दौड़ा, बच्चे दौड़े । देखा, ऊँचे स्थान पर रखा आलुओं से भरा बोरा नीचे गिर पड़ा था । माँ उसी तरह पलंग पर बैठी थी । सब लोग स्थिर हुए । सभी के चेहरे पर शान्ति का भाव तुरत लौट आया । मनाजिर साहब, यह प्रसंग मैंने इसलिए सुना दिया कि आप जान सकें, कि माँ के लिए घर के प्रत्येक सदस्य के मन में कितनी चिन्ता थी, कितना लगाव था । उसकी स्मृति घूमती-फिरती रहे, इसलिए मैंने घर की दीवार पर माँ का एक बड़ा-सा पोट्रेट लगवा रखा है, इसे मेरे बड़े बेटे कुमार संभव ने बनाया है । उस पोट्रेट के नीचे मुझे बैठना अच्छा लगता है । पूछेंगे क्यों ? तो मैं सिराज देहलती के शब्दों में कहूँगा, 'कहते हैं रब ने

माँ के कदमों के नीचे जन्नत रखी है।'

डॉ. हरगानवी : बहुत खूब । क्या विभा जी के बारे में कुछ और बतायेंगे?

डॉ. अमरेन्द्र : अवश्य । उसके संबंध में बताए बिना मेरी कहानी शायद पूरी भी नहीं होगी । सन् १९७० ई. में मेरा विवाह विभा से हुआ। वह जून महिने की १९ तारीख थी । उस समय वह सुन्दरवती महिला महाविद्यालय की छात्र थी अपनी पाँच बहनों—आभा, प्रभा, विभा, प्रतिभा, रम्भा में तीसरी। एक संगीत में सजे हुए नाम । यह संगीत मैं अपने भाइयों के नामों में भी देखता : भूपेन्द्र, अमरेन्द्र, जितेन्द्र । पता नहीं, क्या सोच कर उस समय के लोग नामों में भी संगीत को इतना महत्व देते थे। एक बार किसी के पूछने पर माँ को यह कहते सुना था कि मिलता-जुलता नाम रखने से भाइयों में प्रेम बना रहता है । काश यह सही होता । मैंने तो यही जाना कि गाय और भाय के सींग जन्म से ही अलग-अलग होते हैं । लेकिन मैंने विभा की बहनों में जो प्यार, आदर-भाव और सहयोग का सावन-भादो देखा, वे माँ की धारणा को सिद्ध करते हैं । ससुराल में कुछ विरोध दिखा, तो मेरी वजह से, मेरी अकर्मण्यता के कारण और विभा ने एक दिन नैहर छोड़ दिया । किराये के मकान में चली आई, अपनी सास और अपने बच्चों को लेकर । इसने कभी भी मेरे पिता, मेरी माँ, मेरे छोटे भाई जितेन्द्र की अनदेखी नहीं की । अनदेखी करती, तो बीमार जितेन्द्र को नैहर नहीं ले आती । अब मैं सोचता हूँ कि मेरी पत्नी ने मेरे लिए कितना कुछ सहा है, कितना कुछ किया है । जब वह बी. एस. प्रीवियस कर चुकी थी, उसने स्कूल में पढ़ाना शुरू किया, वह भी एक स्कूल में नहीं, दो-दो स्कूलों में एक साथ। एक स्कूल उस समय सुन्दरवती महिला महाविद्यालय के सामने ही सरकार बिल्डिंग में हुआ करता था, दूसरा सिकन्दरपुर में । दोनों स्कूल का संचालक एक ही व्यक्ति था । विभा दिन में दस से बारह तक पहले खंजरपुर में पढ़ाती, फिर बारह से चार सिकन्दरपुर वाले स्कूल में । यह बात उन्नीस सौ इकहत्तर की है । सन् १९७६ में इसने शिक्षक प्रशिक्षण की परीक्षा पास की । फिर सी. एम. एस नरगा स्कूल में नौकरी की, और इसके बाद सरकारी शिक्षक बन गयी । विभा नहीं होती, तो मेरा घर सुव्यवस्थित

नहीं होता । इसने ही बच्चों को शिक्षा दी, उनके भविष्य के लिए कल्पनाएँ कीं । बेटियों का ब्याह भी किया। आप पूछेंगे कि मैंने अपने परिवार के लिए क्या किया ? तो कहूँगा, कुछ नहीं किया । बस साहित्यकार होने का नाटक करता रहा । मुझसे तो सौ गुणा अच्छा मेरा छोटा भाई जितेन्द्र था, जो हृदय रोग से ग्रसित होकर भी अपने बीमार पिता की सेवा करता रहा । मैंने सुना है, वह भयंकर धूप में पिता की दवाई लेने और डॉक्टर को बुलाने घर से निकल पड़ता, जब कि दो कदम चलने के बाद ही उसका पूरा शरीर पसीने से नहा उठता और थका कर धूप में ही किसी टीले पर बैठ जाता। याद करता हूँ, तो अपराध-बोध से काँप जाता हूँ । जब विभा मेरे जीवन में आई थी, तभी मैंने एक छोटी-सी कविता लिखी थी,

विभा, विभा दो
तिमिरग्रस्त
इस व्यथित हृदय को
दे प्रकाश
कर्त्तव्य निभा दो !

१९८६ में प्रकाशित मेरे काव्य संग्रह 'देहरी पर दीया' में यह कविता आरम्भ में प्रकाशित भी है ।

डॉ. हरगानवी : यह सहयोग सबको नहीं मिल पाता । क्या आप अपने घर के माहौल के बारे में कुछ बताना चाहेंगे ?

डॉ. अमरेन्द्र : अब घर में है ही कौन । कभी घर में तीन बेटियाँ—प्रियंवदा, कनुप्रिया, वसुन्धरा थीं, बड़े पुत्र कुमार संभव के साथ अभिनन्दन भी था, तो घर गुलजार बना रहा था । अब तो तीन बेटियाँ ससुराल में हैं; और छोटा बेटा दिल्ली में, नौकरी करने लगा है । बस कुमार संभव हमदोनों के साथ है । यह ईश्वर की कृपा कहिए कि मेरे कलाकार पुत्र कुमार संभव को कुलीन स्वभाव की लड़की श्रुति श्रीवास्तव पत्नी रूप में मिल गई, और मेरा घर फिर नये ढंग से हँसने लगा है । घर का सन्नाटा टूटा है । आज मेरे घर में, मैं, मेरी पत्नी, मेरा बड़ा पुत्र और पुत्रवधु श्रुति ही है, लेकिन किसी दिन ऐसा नहीं लगा कि घर में बेटियाँ नहीं हैं, छोटा बेटा अभिनन्दन नहीं है । हर दिन किसी-न-किसी समय

विभा दूरभाष पर सबकी खोज-खबर ले ही लेती है । सबकी बातें तो होती हैं विभा से, लेकिन सबके प्रश्नों में मेरे स्वास्थ्य, मेरे साहित्य की जानकारियाँ जरूर शामिल होती हैं । वैसे अब मेरे घर में सब कुछ ठीक-ठाक है, यह भी नहीं कह सकता । उम्र के साथ मेरी झुंझलाहट भी बढ़ती गई है, किसी-न-किसी बात को लेकर सब पर झुंझलाता हूँ, लेकिन घर के सदस्यों ने सहन करना सीख लिया है । विभा ने तो और भी । पहले तो मैं इस बात को लेकर झुंझलाता था कि रहने लायक जब घर बन ही गया, तो छत पर और कमरों को बनाने की क्या जरूरत। कमरे बन गये, तो उनमें जहाँ-तहाँ कलैण्डरों को टाँगने की क्या जरूरत, घर में रेफ्रिजरेटर को लाने की क्या जरूरत थी, इनर्वटर क्यों लाया गया है । अब भी मैं झुंझलाता रहता हूँ, और घर में घर के लिए जो जरूरी होता है, वह हो जाता है । यह देख कर मैं कुछ और चिड़चिड़ा हो उठा हूँ । घर में कोई आए, मुझे उससे कोई मतलब नहीं । विभा लोकाचार के बारे में मुझे समझाती है, और मैं उसे समय के महत्व के बारे में, संबंधों के मायाजाल से बचने के बारे में । बात यहीं तक नहीं है, अब मुझमें भूलने की बीमारी आने लगी है । यह भी भूल जाता हूँ कि फलाँ पुस्तक कहाँ रखी है, रात में किसी कागज पर कविता लिख देता हूँ, और सुबह खोजते रहता हूँ। कागज नहीं मिलता, तो घर के लोगों पर झुंझलाता हूँ कि जरूर घर की सफाई में मेरे कागज साफ हो गये हैं । विभा मुझे समझाने की कोशिश करती है, और मैं समझने को तैयार नहीं होता । आखिर कागज बिछावन के नीचे या किसी डायरी में छिपा मिलता है । मेरी इस आदत के कारण मेरे छोटे-से कमरे में सुबह भी झाड़ू नहीं पड़ता, जगह-जगह मकड़ों के जाल, बिखरी किताबें, कागज के टुकड़े दिख जायें, तो घबराएँ नहीं । इसके बाद भी मेरी झुंझलाहट बरकरार रहती है कि जिन कागजों को मैं कमरे से बाहर कर देता हूँ, वे फिर मेरे कमरे में होते हैं । पत्नी उसे जरूरी कागज समझ कर मेरे कमरे में रख देती है, और फिर मैं वैसा ही हो उठता है । इस स्थिति को कम करने के लिए मैंने एक उपाय निकाल लिया है कि जिस कागज या कॉपी, पत्रिका को व्यर्थ समझता हूँ, उसे टुकड़े-टुकड़े कर कमरे से बाहर फेंक देता हूँ । अब मैं नहीं झुंझलाता, पत्नी झुंझलाती है कि बच्चे की तरह घर को घिना कर रख देते हैं, आखिर

सफाई तो उसे ही करनी पड़ती है । और मैं चुप रहता हूँ । यह सब एक दो रोज के बाद घर में होता ही रहता है । कुल मिला कर यह कह ले सकते हैं कि जो पत्नी को पसन्द है, वह मुझे नहीं, और जो मुझे पसन्द है, वह पत्नी को नहीं । जैसे कि सभी बेटियों की शादी में कन्यादान को लेकर दोनों में विवाद जरूर हुए हैं । मैं कन्यादान के पक्ष में बिलकुल नहीं रहा, और पत्नी इसे शास्त्र-सम्मत समझती है । विरोध तो धार्मिक मान्यताओं को लेकर भी हैं । कहाँ तक कहें । अब तो नई-नई आई पुत्रवधू ने भी इन बातों को समझना शुरू कर दिया है ।

डॉ. हरगानवी : मुझे मालूम है कि आप हिन्दी अंगिका के अतिरिक्त उर्दू भाषा पर भी अधिकार रखते हैं, पढ़ना ही नहीं, लिखना भी जानते हैं। इन भाषाओं के अतिरिक्त कोई और आप जानते हैं ?

डॉ. अमरेन्द्र : मनाजिर साहब, सच तो यही है कि हिन्दी-उर्दू की तरह, कभी मैं अंग्रेजी पर भी उतना ही अधिकार रखता था, इसी से पिताजी यही चाहते थे कि मैं अंग्रेजी से ही बी. ए. करूँ । लेकिन ऐसा न हो सका, और व्यवहार में नहीं आने के कारण मैं धीरे-धीरे अंग्रेजी पढ़ना-लिखना तक भूल गया हूँ। अंग्रेजी की जगह उर्दू ने ले ली है । उर्दू सीखी, तो फारसी सीखने की भी इच्छा बन गयी । आरम्भिक जानकारी भी पूरी कर ली थी, लेकिन परिस्थितियाँ कुछ ऐसी बनीं कि सीख नहीं पाया । बाद में अंगिका आन्दोलन से जुड़ा, तो उर्दू से भी साथ छूटता गया और अब तो आँखें ही साथ नहीं देतीं, तो क्या हिन्दी और क्या उर्दू। फारसी लिपि तो और भी पढ़ने में दिक्कत होती है, संयुक्ताक्षर और नुक्ता के स्थान भी ठीक से नहीं देख पाने के कारण । जो हो, इन भाषाओं के अतिरिक्त मैं बंगला भी लिखना-पढ़ना जानता हूँ, हाँ, बातचीत नहीं कर सकता । यह बंगला लिपि मैंने इसलिए सीखी थी कि रवि बाबू की गीतांजली को पढ़-समझ सकूँ ।

डॉ. हरगानवी : पसंदीदा डिश ?

डॉ. अमरेन्द्र : सामने में दहीबाड़ा हो, तो किसी भी चीज को हाथ ना लगाऊँ । आठ-दस की संख्या में भी दहीबाड़े हों, तो भी मुझसे छूट नहीं सकते । लेकिन क्या कहें, मनाजिर साहब, जब से मित्रों ने खट्टे को मेरे जीवन के लिए खतरनाक बता दिया है, उसकी ओर से आँखें फेरे

रहता हूँ, यह जानते हुए भी कि दही का खट्टापन भला किस हद तक मेरी बीमारी को बढ़ा सकता है । यह वायु की बीमारी क्या हुई, मेरे लिए मौत का सामान जुटा कर मेरे सामने बैठ गयी है ।

डॉ. हरगानवी : हाँ, इस बीमारी के बारे में आपने पाँच साल पहले भी बताया था; क्या इससे अब तक छुटकारा नहीं मिली ?

डॉ. अमरेन्द्र : ना बीमारी से छुटकारा मिल रही है, ना दवाओं से। आप पाँच साल की बात करते हैं, मनाजिर साहब, तीस सालों से यह रोग मुझे अपने कलेजे से लगाए हुए है । इतनी लम्बी मित्रता आज तक मैंने किसी दो राजनीतिक दलों के बीच भी नहीं देखी । मेरे लिए अब यह रोग बहुत असहनीय नहीं रह गया है । साल में छः महीने यह पछाड़े रहता है, जिस बीच रुक-रुक कर डॉक्टरों की दवाइयाँ चलती रहती हैं। सभी चारागर अधिकांश कवि मित्र ही हैं । सुबह तुलसी की दस बूँद, फिर एसीलॉक, फिर ब्लडप्रेसर की टिकिया, फिर खाने के बाद डॉ. भूपेन्द्र मंडल या हरिगोप जी की होमियोपैथी दवा । डॉ. भूपेन्द्र मण्डल दो साल से होमियोपैथी की दवा पिला रहे हैं, फिर भी डॉक्टर साहब की यही जिद है कि पन्द्रह दिन में रोग भागेगा । क्या कहें, मनाजिर साहब, जब वायु माथे तक चढ़ आती है न, तब ऐसा चक्कर आता है कि मैं आँखें बंद कर निर्जीव-सा पड़ जाता हूँ । यह रोग है या राजनीति का भ्रष्टाचार, खत्म होने का नाम नहीं लेता ।

डॉ. हरगानवी : तो अच्छे डॉक्टर से इलाज क्यों नहीं करवाते ?

डॉ. अमरेन्द्र : अच्छे डॉक्टर । क्या कहा आपने, मनाजिर साहब, मैंने कभी डॉक्टर के लिए एक अणुकथा लिखी भी—एक रोगी डॉक्टर के पास पहुँचता है । डॉक्टर रोगी से पेशाब जाँच की रिपोर्ट मांगता है । रोगी देता है, तो डॉक्टर खून जाँच की रिपोर्टें माँगता है । रोगी वह भी ला कर देता है । फिर कई रिपोर्ट माँगी जाती हैं, रोगी सब कुछ देता है, अन्त में डॉक्टर पोस्टमार्टम रिपोर्टें माँगता है । रोगी कहता है, वह तो आपके इलाज के बाद ही आपको दूँगा ।

डॉ. हरगानवी : बहुत खूब ।

डॉ. अमरेन्द्र : लेकिन यह तो कथा की बात हुई, सच तो यही है कि मैं डॉक्टर के पास जाना ही नहीं चाहता । ईमानदारी से कहूँ, अब

अपनी जिन्दगी के प्रति मोह ही नहीं रहा । सत्तर के आस-पास का हो रहा हूँ । और बचूँगा, तो घर के लोगों के सुख-शांति की कीमत पर ही। अपने जीवन के लिए घर के लोगों को अशान्त नहीं करना चाहता । मेरे होने या ना होने से अन्तर ही क्या आ जायेगा या फिर दुनिया में कौन-सा हाहाकार मच जायेगा । फिर कौन-सा दुख दुनिया में अमर है, अगर होता तो जापान, नेपाल, पाकिस्तान और भारत के भूकम्पों की तिथियाँ और मृतकों के आँकड़े लोगों के दिमाग में होते । आप सुनते नहीं, भीड़ के बीच से अपराधी लड़की, बच्चियों को उठा ले रहे हैं । लोग तमाशबीन बने रहते हैं, तब अगर मैं दुनिया को अलविदा कर ही जाता हूँ, तो कौन-सा पहाड़ गिरने वाला है। जो समय आ रहा है, उसमें तो मरणोपरान्त कंधा देने वाले भी मुश्किल से मिलेंगे । इतने अपरिचित हुए जा रहे हैं लोग । यह जब आप से कह रहा हूँ, तो मुझे अपने मित्र कवि रामशर्मा अनल की कही कहानी याद आ रही है, शायद उनके गाँव के आसपास की कहानी थी। दो भाइयों में आखिर जमीन-जायदाद का बँटवारा शुरू हुआ । दोनों भाइयों ने जो चाहा, मन मुताबिक लिया, किसी ने कोई विरोध नहीं किया, लेकिन एक सवाल पर कि माँ किसके पास रहेगी, दोनों में संघर्ष ठन गया । कोई माँ को छोड़ने के लिए तैयार नहीं था । संघर्ष इस फैसले पर रुका, कि माँ एक सप्ताह एक बेटे के यहाँ रहेगी और दूसरे सप्ताह दूसरे बेटे के पास । चूँकि माँ नब्बे की हो गई थी, इसी से सप्ताह खत्म होते ही बेटे उसे पीठ पर लाद कर अपने घर ले आते । अब यह बात लोककथा की तरह लगेगी, लेकिन यह सच की कथा है, डॉक्टर साहब । अब तो बेटे को माँ से नहीं मतलब, पति को पत्नी से नहीं । तब डॉक्टर को मरीज से ही कितना मतलब रह गया होगा, इस आर्थिक युग में, यह तो आप ही सोच सकते हैं । कुछ ही दिन पहले टी. वी. पर देख रहा था, एक डॉक्टर ने अपनी नर्स के सहयोग से कई मरीजों को अपनी बगीचे में जीते जी बेहोश कर दफना दिया । क्या ऐसा ही होता है कलियुग का देवता ?

डॉ. हरगानवी : हिन्दुस्तान को हिला दिया था इस समाचार ने लेकिन आपके शब्दों में कौन-सा दुख अमर है, इसलिए इन बातों से अलग अब आप यह बताइए कि आप की पसन्द का ड्रेस कौन-सा है ?

डॉ. अमरेन्द्र : आरम्भ से ही फुलपैण्ट और उस पर हाफ सर्ट । पसन्द तो पाजामा-कुर्त्ता भी है, लेकिन इसे पहनता हूँ, कभी-कभी, किसी खास अवसर पर ही, फिर कुर्त्ता सिल्क का हो, तभी ।

डॉ. हरगानवी : इसमें रंग का भी ख्याल रखते होंगे ?

डॉ. अमरेन्द्र : निस्सन्देह । फुलपैंट काले रंग का ही हो, तो बहुत अच्छा, नहीं तो गहरे नीले रंग का । अगर इस काले पर काले रंग की गंजी हो तो ठीक, नहीं तो सफेद रंग का हाफ सर्ट । वैसे किसी रंग से मुझे परहेज नहीं है । मुझे किशोर काल से ही औघड़ के बदन पर झूलता काले रंग का लम्बा वस्त्र बहुत आकर्षित करता रहा है । मुझे पुर्णिमा भी वही अधिक पसन्द है जिसमें चाँद बादलों के बीच छिप-छिप कर उभरता है । यह मेरे स्वभाव का अब हिस्सा बन गया है । कभी अन्धेरे में बैठ कर त्राटक किया करता था, फिर बंद आँखों के अंधेरे में किसी तेज तारे की रोशनी देखने की आदत बन गयी, वह अब भी है । इस श्वेत-श्याम के मेले में मुझे प्रकृति का दिन-रात वाला मायावी दृश्य ही नहीं दिखता, जीवन-मृत्यु की रोमांचक झांकी भी मिलती रहती है। और अगर श्वेत-श्याम के बीच एक की बात करेंगे, तो मैं श्याम को ही चुनूँगा, जो मुझे आखिरी सत्य की तरह लगता है । मैंने सुना है प्रकाश की आग उगलता यह सूर्य भी एक दिन जल कर टुकड़े-टुकड़े हो कर बिखर जायेगा। फिर आयेगा महाप्रलय का अंधकार ।

डॉ. हरगानवी : आप दार्शनिक मुद्रा में आने लगे । मैंने तो यूँ ही पूछ लिया था । अच्छा, अब आप यह बताइए कि आप का पसंदीदा मौसम कौन-सा है ?

डॉ. अमरेन्द्र : ऐसा कोई मौसम नहीं, जिसे मैं पसन्द नहीं करता। जानते हैं, मेरी अंगिका कविताओं का संग्रह 'ऋतुरंग' किसी एक मौसम के बीच नहीं लिखा गया है । मैंने प्रत्येक ऋतु के रूप और स्वभाव को बड़ी निकटता से देखा है । जिसे देखा भर नहीं, उसे, उस ऋतु को बंद आँखों में नया कर देखा है । किसी मौसम का मिजाज कुछ कड़ा है, तो वह भी बहुत ठीक है । अभिभावक डाँट-डपट न करे, तो बच्चे उदंड हो जाते हैं । और कौन-सा ऐसा मौसम है, जिसका एक पक्ष डराता नहीं। वसन्त व्यस्क होता है, तो अपनी धूप से बेदम करने लगता है, वर्षा

हरियाली लाती है, तो जलप्रलय भी लाती है । कवि हजार शरत की प्रशंसा करे, लेकिन इसकी तीखी धूप तो बैशाख को भी मात दे देती है। इसी से मैं कहता हूँ, मुझे हर मौसम प्यारा है । प्यारा नहीं होता, तो मैं 'ऋतुरंग' नहीं लिख सकता, और न ही 'गेना' लिख पाता । इसके नौ खण्ड में ६ सर्ग तो ऋतुओं के सर्ग है । वैसे शिशिर और वसन्त का सन्धिकाल मुझे बेहद पसन्द है, पूरे शरीर में सिहरन पैदा करता रहता है ।

डॉ. हरगानवी : कोई पसंदीदा खुशबू ?

डॉ. अमरेन्द्र : रात में खिलने वाले फूलों की खुशबू मुझे बहुत प्रिय हैं, वह चाहे जूही हो, कामिनी हो, रजनीगंधा हो, रातरानी हो, बेला हो, लेकिन इनमें हरसिंगार की खुशबू जब हवा में तैरती हुई मेरे करीब से गुजर जाती है, तब वह मुझे भी अपने साथ बहा लिए जाती है, तब मैं रहते हुए भी कहाँ रहता हूँ। आपने यह पूछ कर मेरी पीड़ा को जगा दिया है । मेरे घर की बगल में हरसिंगार का झबरा हुआ वृक्ष था । शरत के आगमन के साथ ही, फूलों से लदने लगता और मेरा घर खुशबू का घर बन जाता था । अब वहाँ पर एक आलीशान भवन खड़ा हो गया है, इसके लिए उस वृक्ष को काट दिया गया था । जानते हैं हरगानवी जी, मैंने अपने घर की छत पर बड़े-बड़े गमलों में हरसिंगार, रातरानी, कामिनी के पौधे लगाए थे, लेकिन मुट्ठी भर मिट्टी और अंजुरी भर जल के सहारे ये पौधे कितने दिन बच पाते । वैसे अब भी मेरी गली से बाहर सड़क पर हरसिंगार का एक वृक्ष है, ईश्वर करे कि यह मेरे जीवन के बाद भी बचा रहे । वैसे हरसिंगार का ही क्यों, वृक्ष कोई भी हो, उसका बचना, आदमी के बचने के लिये बहुत जरूरी है, डाक्टर साहब।

डॉ. हरगानवी : आपकी पसन्द की भाषा क्या है ?

डॉ. अमरेन्द्र : वह तो हिन्दी ही है, लेकिन इसकी कमियों को भी पसन्द करता हूँ, ऐसा नहीं है । देखिए, मैं अनुशासन को पसन्द करता हूँ लेकिन जब आप अनुशासन को ही सब कुछ मान लेते हैं, तब दिक्कत होती है । फिर अनुशासन में भी अगर एकरूपता नहीं हो, तो और दिक्कत । मैं यह हिन्दी के व्याकरण के संबंध में कह रहा हूँ । यहाँ तालव्य 'श' और मूर्धन्य 'ष' के प्रयोग की ही जटिलता नहीं है, लिंग-प्रयोग की भी जटिलता है । मुझे स्कूली शिक्षा के क्रम में एक

शिक्षक ने बताया था कि न के पूर्व य या र आए, तो 'न' हमेशा मूर्धण्य 'ण' होगा, लेकिन मैं पूछता हूँ, जब कन की जगह कण ही लिखा जाए, तब कौन-सा व्याकरण काम कर रहा है । मैंने बाद में यह प्रश्न किया था, तो शिक्षक ने बताया था कि पश्चिम प्रान्तों में कन को लोग कण ही बोलते हैं । अब सोचिए कि भाषा पर व्याकरण का अनुशासन होगा कि क्षेत्र के लोगों का ? अगर ऐसा ही है, तो बिहार के लोग जैसा बोलते हैं, वैसा ही व्याकरण क्यों न बने । हिन्दी में संस्कृत के अरबी, फारसी के ढेरों शब्द हैं, जब हमने उन शब्दों को लिया है, तो उनके लिंगों को भी वैसा ही क्यों न रहने दिया गया ? मुझे लगता है कि हिन्दी को सरल बनाने की अभी और जरूरत है । जब हमने यह माना कि हिन्दी में मूर्धन्य ष का उच्चारण लुप्त हो गया है, तो इसे वर्णमाला में बनाए रखने की क्या जरूरत । इसे ष को बनाए रखने के लिए व्याकरण बनाना पड़ा है, और हिन्दी सीखनेवालों के लिए यह बोझिल है । जब 'ऋ' का उच्चारण 'रि' की तरह होता है तो 'रि' ही लिखने को आप क्यों नहीं प्रोत्साहित करते हैं । ऋतु को रितु ही लिखते बोलते हैं । इधर उर्दू का भी अरबी-फारसीकरण होने लगा है, तो उनलोगों के लिए उर्दू सीखना कठिन हो गया है, जो हिन्दी परिवेश में पले-बढ़े हैं । मेरी हिन्दी-उर्दू में रचनाएँ हैं, लेकिन मेरी हिन्दी वह हिन्दी-उर्दू है, जो काया और आत्मा से एक है, अन्तर करने के लिए बस साड़ी या बुरका पहनाने की जरूरत है, मेरा मतलब लिपि से है । और लिपि का अन्तर किसी भाषा को अलग नहीं सिद्ध कर सकता।

डॉ. हरगानवी : आपके कहने का मतलब यह है कि हिन्दी-उर्दू एक ही भाषा है ?

डॉ. अमरेन्द्र : कम-से-कम मैं तो ऐसा ही मानता हूँ, मेरी तरह और भी लोग हैं, जो एक ही मानते हैं, हिन्दी के प्रख्यात कथाकार शानी का विचार भी ऐसा ही था । लिपि के बदलने से क्या होता है । हिन्दी को लोग रोमन में भी लिखते हैं, तो क्या वह अंग्रेजी हो जाती है ? लेकिन उर्दू ने जिस शक्ल का रूप धारण करना शुरू किया है, उससे उर्दू को कौन हिन्दी कहेगा, मुसलमानी हिन्दी भी नहीं । वह देवनागरी लिपि में होने के बाद भी हिन्दी नहीं लगती । अब हिन्दी और उर्दू के इन्हीं रूपों से

परहेज होने के कारण मैं अपने को अंगिका की ओर अधिक झुका महसूस करता हूँ । भाषा अभिव्यक्ति का साधन है, इसमें व्याकरण का हस्तक्षेप उतना भर ही स्वागत योग्य है कि वह अभिव्यक्ति में अड़चनें न पैदा करे। दशकों से अंगिका से कटे रहने के बाद आज यह महसूस कर रहा हूँ कि मैं अंगिका भाषा के वैभव से आखिर इस तरह कटा क्यों रह गया, जिसका सुव्यवस्थित लचीला व्याकरण है, जिसके पास शब्दों का विशाल कोष है, क्योंकि यहाँ अन्य विदेशी शब्दों को भी स्वीकारने की अद्‌भुत उदारता है । हरगानवी साहब, मैंने अंगिका में जो कुछ लिखा है, उस पर मुझे बेहद संतोष है, इस भाषा के सहारे मैं वह सब कुछ कह पाया है, जो मैं हिन्दी-उर्दू के सहार भी नहीं कह पाया । इसी से मैं अपने को मातृभाषा अंगिका के बहुत करीब पाता हूँ ।

डॉ. हरगानवी : लेकिन हिन्दी में तो आप आज भी लिख रहे हैं। सुना है, हिन्दी रेडियो नाटकों का एक संग्रह 'सिंहासन का सन्यास' भी हाल में ही छप कर आया है ।

डॉ. अमरेन्द्र : ये रेडियो नाटक आज के लिखे नहीं हैं । अब लिख ही कहाँ पा रहा हूँ । न हिन्दी में, न अंगिका में । फिर हिन्दी में लिखा भी इतना है कि उन्हें प्रकाशित कराना ही मेरे लिए कठिन हो रहा है ।

डॉ. हरगानवी : आपने एक साथ ही आलोचनाएँ लिखी, नाटक लिखे, कहानियाँ लिखी, उपन्यास लिखे, काव्य लिखे और सभी विधाओं को लेकर आपकी ख्याति है। लेकिन आप अपने को मानते क्या हैं, कवि या कहानीकार, नाटककार या आलोचक ?

डॉ. अमरेन्द्र : मैं सबसे पहले कवि हूँ, बाद में कुछ और । जिस समय मैं कविता कर रहा होता हूँ उस समय में देश-काल की सीमा से परे, एक ऐसे अनुभूति-लोक में विचरता रहता हूँ जो मेरे सुख-दुख को लोक के सुख-दुख में बदलता रहता है । वहाँ मेरा अस्तित्व जैसे मिट जाता है । मेरा भाव जगत के भाव से भिन्न नहीं दिखता । भाव की इस दशा से भला कौन बाहर आना चाहेगा । इसी से मैं कहता हूँ कि मैं पहले कवि हूँ ।

डॉ. हरगानवी : तो क्या साहित्य की अन्य विधाओं के सृजन के

समय यह भावदशा नहीं रहती ?

डॉ. अमरेन्द्र : रहती है, लेकिन वहाँ पर बुद्धि का हस्तक्षेप ज्यादा होता रहता है, वहाँ सोच-विचार का जमा-खर्च पहले है । कविता का लोक विश्लेषण से संचालित कम होता है, यहाँ संश्लेषण का उत्सव चलता है, इसी से इसका आनन्द भी अलौकिक होता है ।

डॉ. हरगानवी : आपने लिखना कब और कैसे शुरू किया ?

डॉ. अमरेन्द्र : निश्चित रूप से वह १९६७ या ६८ का वर्ष होगा, जब मैंने लिखना शुरू किया । इसके पहले का मुझे स्मरण नहीं आ रहा। तब मैं भागलपुर से बाँका चला आया था, १९६९ में बाँका से एक मासिक पत्रिका 'चन्द्रकिरण' का प्रकाशन शुरू हुआ । सम्पादक थे, सदानन्द सिंह, और मोहन मिलन शायद उसके सह सम्पादक थे और प्रकाशक थे, बाबा भारती। इन तीनों में बाबा भारती सबसे अधिक आकर्षक व्यक्तित्व के थे, उनका हौसला भी, उनके व्यक्तित्व की तरह दिव्य था । उनका मूल नाम था, चंद्रकिशोर सिंह, पर उपनाम रख लिया था, बाबा भारती, और वह इसी उपनाम से विख्यात भी थे । सुदर्शन की कहानी 'हार की जीत' के बाबा भारती की तरह सहृदय थे, लेकिन वक्त पड़ने पर खड़गसिंह भी बन जाते थे । साहित्यकार खुशीलाल मंजर जब उनके चरित्र की कहानी सुनाते हैं, तो इनकी आँखें खिल जाती हैं । यह मैंने बहुत बाद में जाना था कि साईकिल से ही बाबा भारती शांतिनिकेतन तक पहुँच गये थे, बोलपुर बंगाल। तो बाबा भारती ने चन्द्रकिरण का प्रकाशन शुरू किया था । इसके प्रवेशांक में मेरी कविता छपी थी और दूसरे अंक में विमल विद्रोही की कहानी 'बंधन' । विद्रोही ही आगे चलकर अनिरुद्ध प्रसाद विमल हो गये। चन्द्रकिरण का दूसरा अंक नवम्बर-दिसम्बर १९६९ में प्रकाशित है । स्पष्ट है कि इसका प्रवेशांक अक्टूबर १९६९ में ही प्रकाशित हुआ होगा । इस प्रवेशांक में जो मेरी कविता छपी थी उसका शीर्षक था 'ओ बापू नाविक तुम आ ।' कविता तो याद नहीं, लेकिन यह कविता सवैया छंद में थी, इतना मुझे याद है। आरम्भ में जो कविताएँ की, वे वार्णिक छन्द में ही थीं । यह मेरे लिए आसान भी था । गुरु-लघु अक्षरों को जान गया था, इसी से सवैया कवित्त और पंचदशाक्षर छन्द में मुक्तक लिखना शुरू किया था। मेरी दूसरी

कविता जो मेरे पिताजी ने स्कूल पत्रिका 'निर्माण' में प्रकाशित की थी, वह वार्णिक छन्द में ही है ।

डॉ. हरगानवी : क्या वह कविता याद है ?

डॉ. अमरेन्द्र : हाँ, कुछ पंक्तियाँ याद हैं । सुनिए,

यह चिराग जल रहा है ज्ञान, आन, शान का
अनीति-अंधकार का विनाश हो अज्ञान का ।
कह रही मशाल है—यह संस्कृति अशोक हो
प्रेम भाव से भरा महान अब त्रिलोक हो ।

डॉ. हरगानवी : आपको कविता कहने की प्रेरणा कहाँ से मिली?

डॉ. अमरेन्द्र : आपके इस प्रश्न के उत्तर के पहिले मैं बताना चाहूँगा कि गाने का शौक मुझे बचपन से ही रहा, ये अलग बात है कि वे गीत अधिकतर फिल्मी हुआ करते । लेकिन इससे मुझे गीत के शिल्प को समझने में मदद मिली होगी, लय की समझ बनी होगी और शायद वैसा ही कुछ रचने की प्रेरणा भी । यहाँ मैं यह भी बताना चाहूँगा कि बड़े भाई प्रो. भूपेन्द्र कुमार सिन्हा जब एम. ए. (हिन्दी) के छात्र थे, और जब उन्हें 'उद्धव शतक' को लय में पढ़ते सुनता, तो मैं बहुत प्रभावित होता, लेकिन वैसा लिखने का कभी मन हुआ हो, ऐसी बात नहीं । तब मेरी उम्र ही क्या रही होगी । ज्यादा-से-ज्यादा छः साल का हूँ । पहली बार कविता की कुछ पंक्तियाँ जोड़ी, तो वह साल १९६६-६७ का रहा होगा, बच्चन की मधुशाला की शैली पर कुछ छन्द जोड़े थे, लेकिन कवि-कर्म शुरू किया, तो वार्णिक-छन्दों में पद रचना से । इस समय की रचना पहली बार बाँका से प्रकाशित 'चन्द्रकिरण' में छपी थी जो सवैया छन्द में रची गयी थी । इसी रचनाकाल में मैंने 'उद्धव शतक' के शिल्प में 'वेणु-वंशी' का सृजन किया था जिसका विषय भी गोपी-कृष्ण का वियोग और नन्द-यशोदा का वात्सल्य है । दशकों तक अप्रकाशित रहने के बाद अब यह लघुकृति प्रकाशित हो गयी है । शायद इन दोनों कृतियों 'मधुशाला' और 'उद्धव शतक' का प्रभाव अचेतन मन पर जमा हुआ हो, जो प्रेरणा की भूमि भी बन गया हो ।

डॉ. हरगानवी : आप को कौन-सा उपन्यास सबसे अधिक प्रिय है?

डॉ. अमरेन्द्र : एक नहीं, कई उपन्यास हैं । याद है, एक बार मेरे मित्र अनिल शंकर झा ने मिथिलेश्वर के उपन्यास 'यह अंत नहीं' की प्रशंसा ही नहीं की, बल्कि वह उपन्यास उपलब्ध भी कराया ताकि मैं उसे पढ़ लूँ । पढ़ गया, ऊबा नहीं, अनिल जी ने ठीक ही कहा था । लेकिन अनिल जी की यह बात मेरी समझ में नहीं आई कि कमलेश्वर के 'कितने पाकिस्तान' के बारे में उन्होंने यह क्यों कहा कि यह उपन्यास समझ में नहीं आया । जबकि 'यह अंत नहीं' से कहीं ज्यादा मजबूत उपन्यास है 'कितने पाकिस्तान'। रोचक शिल्प और कथ्य की आधुनिकता का अद्‌भुत उपन्यास है, कमलेश्वर का 'कितने पाकिस्तान' । सच कहूँ तो प्रेमचन्द के 'गोदान' और रेणु के 'मैला आँचल' ने भी इतना अधिक प्रभावित नहीं किया था । हाँ राधेय राघव के उपन्यास 'अधूरा किला', को भी अभी तक नहीं भूल पाया हूँ, जैसा कि जैनेन्द्र के उपन्यास 'त्यागपत्र' को । जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' की तरह ही श्रीकेशव का भी एक लघु उपन्यास है 'शेष फिर' । इसे जब मैंने पहली बार पढ़ा था, तो लगा था कि यह लघु उपन्यास अपने शिल्प और कथा को लेकर दूसरों से कुछ अलग है, जिस पर आलोचकों का ध्यान गया होता, तो हिन्दी के प्रमुख उपन्यासों में 'शेष फिर' की भी गिनती होती । यह उपन्यास श्रीकेशव के उपन्यास 'सफेद गिद्ध' से भी अधिक मुझे प्रभावी लगा था । पढ़े तो और भी उपन्यास हैं, जैसे डॉ. मधुकर गंगाधर का उपन्यास 'सुबह होने तक' भी अदभुत उपन्यास है। अभी-अभी मैंने सुधा ओम अरोड़ा का उपन्यास 'नक्काशीदार केबिनेट' को भी पढ़ कर समाप्त किया है। यह इनका पहला उपन्यास है लेकिन क्या खूब लिखा है । पंजाब के अशांत परिवेश पर लिखा गया उपन्यास है । लघु उपन्यास है, लेकिन पंजाब की पीड़ा पर लिखा गया एक मार्मिक उपन्यास है । इसी के साथ पंकज सुबीर के उपन्यास 'अकाल में उत्सव' का नाम लेना चाहूँगा । पूरा नहीं पढ़ पाया हूँ । लेकिन जहाँ तक पढ़ा है, उससे बहुत प्रभावित हूँ । लेकिन इस सबसे अलग सच कहता हूँ रसूल हमजातोव का 'मेरा दागिस्तान' ही एक ऐसा उपन्यास है, जिसने शिल्प और वस्तु को लेकर मुझे बेहद प्रभावित किया है, मैंने किसी उपन्यास को दोबारा नहीं पढ़ा, 'मेरा दागिस्तान' को पढ़ा है । इस उपन्यास की तरह इस्मत चुगताई के उपन्यास 'दिल की दुनिया' को भी

मैं कभी नहीं भूल पाऊँगा । 'मित्रो मरजानी' ने अगर प्रभावित किया, तो डॉ. मृदुला शुक्ला के उपन्यास 'हिरनी बिरनी' ने भी, लेकिन 'दिल की दुनिया' की बात कुछ और है ।

डॉ. हरगानवी : आपका सर्वाधिक प्रिय नाटक ?

डॉ. अमरेन्द्र : 'राधा कृष्ण सहाय कृत 'अंत' किम' । क्या संवाद है, क्या चरित्र है, क्या भाषा-शिल्प और क्या जबर्दस्त महाभाव !

डॉ. हरगानवी : अपने अंचल की नई पीढ़ी की कवयित्रियों में आप किसी का नाम लेना चाहेंगे ?

डॉ. अमरेन्द्र : को बड़-छोट बहुत अपराधू । लेकिन तब भी कहूँगा, अनामिका शिव की कविताएँ ही ऐसी कविताएँ हैं, जिसमें भाव और शैली का अद्‌भुत जुड़ाव है । बड़ी-से-बड़ी बातें कहती चली जाती हैं, लेकिन कहीं आवेग नहीं । कहीं हल्का हास्य होता है, कहीं कभी छिपी हुई करुणा और इन्हीं सब के बीच कवयित्री मौन में ऐसी बात कह जाती है, जो पाठक के मन में सदियों गूंजती रह जाए । अनामिका शिव की कविताएँ ध्वनि काव्य के प्रतिमान हैं । अनुभूति की ऐसी व्यंजना नई पीढ़ी के अन्य कवियों में नहीं देखी, मैंने जितने नये कवियों को पढ़ा है । काव्य का यही अस्वाद मुझे सुप्रिया सिंह 'वीणा' की कविताओं में भी मिला है। 'अर्न्तदृष्टि' वीणा की कविताओं का लघु संग्रह है, पर कविताओं में जो संवेदना की सघनता और प्रभावात्मकता है, वह प्रशंसनीय है । वैसे क्षमा कीजिएगा, डाक्टर साहब, मैंने नई पीढ़ी के रचनाकारों को बहुत कम पढ़ा है ।

डॉ. हरगानवी : नई पीढ़ी के किसी कवि का नाम ?

डॉ. अमरेन्द्र : हाँ, डॉ. सत्यानन्द का नाम लेना चाहूँगा । हलांकि इस युवा कवि का अब तक कोई काव्य संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ है, लेकिन क्या कहें, हरगानवी साहब, क्या गजल पर पकड़ है, क्या दोहे पर भी वैसी ही पकड़। अगर डॉ. सत्यानन्द दिल्ली में होते, तो हिन्दुतान में छाये रहते, भागलपुर में हैं, तो भागलपुर भी ठीक से नहीं पहचानता । डॉ. सत्यानन्द के साथ मैं एक और युवा कवि का नाम लेना चाहूँगा, वह हैं, राहुल शिवाय दोहा, गजल, गीत, बालगीत, काव्य की प्रायः सभी विधाओं में राहुल शिवाय की रचनाएँ प्राप्त हैं, और ये रचनाएँ ऐसी हैं कि

वयस्क प्रतिभा की व्यस्त अभिव्यक्ति लगे । हिन्दी को अनामिका शिव, सुप्रिया सिंह, डॉ. सत्यानन्द, राहुल शिवाय से बहुत कुछ मिलेगा, यह उम्मीद हम कर सकते हैं ।

डॉ. हरगानवी : आपकी पसन्द की पत्रिका ?

डॉ. अमरेन्द्र : हरगानवी जी, आप को सच कहता हूँ कि अब मैं पत्रिकाएँ नहीं पढ़ता हूँ । कभी कमलेश्वर, नामवर सिंह, और अज्ञेय के सम्पादन में निकलने वाली पत्रिकाएँ सारिका, आलोचना और प्रतीक का नियमित पाठक रहा । धर्मवीर के संपादन में प्रकाशित होने वाली पत्रिका धर्मयुग का भी नियमित पाठक था, लेकिन इन पत्रिकाओं के बंद होते ही पत्रिकाओं से भी संबंध टूट-सा गया । वैसे अब भी 'समकालीन साहित्य' पढ़ने को जी चाहता है, लेकिन शहर में उपलब्ध नहीं है । इस पत्रिका के प्रति मोह मेरा पूर्व-सा ही है । हाँ, इधर 'विभोम स्वर' के नाम से एक पत्रिका आई है । पंकज सुबीर सम्पादक हैं और ओम ढींगरा प्रधान संपादक। बढ़िया पत्रिका है । इसके पहले सुधा ओम ढींगरा 'हिन्दी चेतना' निकालती थीं । वह भी बहुत सुन्दर पत्रिका थी । शायद अब बंद हो गयी । अब तो ले दे के 'वागर्थ' 'नई धारा' और 'किस्सा' पर ही ज्यादा भरोसा है ।

डॉ. हरगानवी : आपकी पसन्द के सम्पादक ?

डॉ. अमरेन्द्र : सम्पादक तो वही पसन्द के हो सकते हैं, जो पाठकों की संतुष्टि का ध्यान रखे । अब अगर कोई अपने मत, अपने विचार के प्रसार के लिए पत्रिका का सम्पादन कर रहा है, तो वह सम्पादक एक वर्ग का प्रिय तो हो सकता है, बहुत बड़े वर्ग का नहीं । वैसे कोई सम्पादक एक पत्रिका का सम्पादन किसी विशिष्ट विचारधारा को लेकर ही करता है और इसी कारण एक विचारधारा के लेखकों का जुटान भी वहाँ हो जाता है, ऐसी स्थिति में निष्पक्षता की वहाँ उम्मीद करना बेमानी ही होगा, और वह व्यक्ति उस सम्पादक से सन्तुष्ट कैसे हो सकता है, जो सभी दिशाओं से आनेवाली हवाओं के मिजाज को परखना-जानना चाहता है । धर्मवीर भारती में सभी वर्ग के पाठकों की जिज्ञासाओं को शांत करने की क्षमता थी और शायद वह मेरे ही नहीं, एक बहुत वर्ग की पसन्द के सम्पादक थे ।

डॉ. हरगानवी : राजनीति में आपकी दिलचस्पी ?

डॉ. अमरेन्द्र : मनाजिर साहब, कभी संस्कृति राजनीति को प्रभावित करती थी, अब राजनीति संस्कृति को प्रभावित कर रही है । समाज-साहित्य सब कुछ इससे प्रभावित है, इसी कारण राजनीति से पूरी तरह कट कर रहा भी नहीं जा सकता । लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि मैं किसी पार्टी के लिए काम करूँ, उसके नारे लिखूँ या गोष्ठियों में उसके पक्ष में वकालत करूँ । एक समय था, जब राजनीति देश की रक्षा के लिए होती थी, सम्पूर्ण समाज के हित के लिए होती थी, तब राजनीति का अर्थ भी विशाल था, अब तो राजनीति प्रान्तों के लिए होती है, साम्प्रदायिक दंगों के लिए होती है, तो ऐसी राजनीति में दिलचस्पी क्या होगी । चुनाव के समय जरूर मैं अपने में कुछ सक्रियता देखता हूँ, वह भी कुछ मित्रों के बीच होकर ही । भीड़ से बिलकुल बचता हूँ क्योंकि राजनीति ने भीड़ को हिंसक बना दिया है । अभी-अभी मैं अखबार में पढ़ रहा था कि पंचायत के चुनाव में मतदान नहीं करने पर किसी ने कुल्हाड़ी से किसी को काट डाला । अब ऐसी स्थिति में राजनीति से क्या दिलचस्पी होगी । देश में राजनीति है भी क्या जिसका संबंध पहले नीति से होता है ? जिसे आप राजनीति कह रहे हैं, वह दरअसल जातिनीति है, अधर्मनीति, प्रान्तनीति है, वर्गनीति है, उसमें देशनीति कहाँ है । राज्य की उन्नत्ति के लिए, राज्य के सभी वर्गों के हित के लिए वहाँ सोच कहाँ है ! अब अपने देश की राजनीति विभाजन-नीति बन कर रह गयी है, और ऐसा अगर हो गया है, तो इसमें सिर्फ नेताओं का दोष नहीं है, हमारा समाज ऐसा हो गया है, कि यह इसे अन्तरमन से पसन्द करने लगा है। दो या तीन प्रतिशत लोग ही ऐसे हैं, जो इस राजनीति के विरोध में उबलते हैं, उबल रहे हैं, ये राजनीति में भी हैं और ये दो तीन प्रतिशत लोग ही भीतर और बाहर से एक हैं, और इनकी बातें मानने के लिए कोई तैयार नहीं, तथाकथित राजनेता तो बिलकुल नहीं । आज राजनीति की सार्थकता बस इसमें रह गयी है, कि किसी धर्म, जाति, सम्प्रदाय की ताकत पर वह अपनी कुर्सी को किसी तरह असुरक्षित न होने दे और जो राजनीति इस नीति में जितनी सफल है, वही समय की सर्वाधिक श्रेष्ठ और लोकप्रिय राजनीति है । भला ऐसी राजनीति में मेरी क्या दिलचस्पी

हो सकती है ?

डॉ. हरगानवी : लेकिन खतरे तो उठाने ही पड़ेंगे, इस भयावह स्थितियों में परिवर्त्तन के लिए ।

डॉ. अमरेन्द्र : आप बिलकुल ठीक कह रहे हैं । लेकिन एक साहित्यकार उस तरह का जोखिम नहीं उठा सकता, यह भी सोचना होगा । वह पुलिस या राजनेताओं की तरह तो काम नहीं कर सकता । जो साहित्यकार इस राजनीति में रहे भी, वे भी साहित्य से अलग नहीं रहे। अलग रह भी नहीं सकते, क्योंकि एक सच्चा साहित्यकार सर्वजन हिताय की मंगल कामना से प्रेरित होता है, उसके सामने जाति, धर्म-सम्प्रदाय की सीमाएँ नहीं होतीं । वह अपने साहित्य से सीमाओं को तोड़ने का प्रयास करता है, तोड़ता भी है । यह भी तो खतरे को उठाना ही है । मुझे लगता है कि राजनीति में सीधी भागीदारी से साहित्यकार को बहुत कुछ हासिल भी नहीं होता, विश्वनाथ प्रसाद सिंह, अटल बिहारी वाजपेयी जैसे साहित्यकार बहुत कम होते हैं, बाकी तो फणीश्वरनाथ रेणु की तरह मात खाते हैं । ऐसे में साहित्य द्वारा भ्रष्ट राजनीति और सामाजिक विसंगतियों पर जितना प्रहार संभव हो, साहित्यकार यह करे। यह काम हरिशंकर परसाई, शरत जोशी, कमला प्रसाद बेखबर, नागार्जुन, बालेन्दु शेखर तिवारी, श्याम सुन्दर घोष, चन्द्रप्रकाश जगप्रिय जैसे साहित्यकारों ने किया है। एक समय अंजनी कुमार विशाल ने भी अपने सम्पादकीय लेखों से यह काम खूब किया था । फिर भी हम कहना चाहेंगे कि ऐसे समय में साहित्यकार को भाषा पर नियंत्रण रखना जरूरी है, क्योंकि साहित्य का मूल्य समाज और राजनीति को संस्कार देने में ही है । मेरे एक मित्र कवि थे, दिवाकर विद्रोही; उनकी कविताएँ सुधार की कामना से सृजित होतीं लेकिन गाली-गलौज तक उतरने में उन्हें कोई संकोच नहीं था । यह प्रभाव धूमिल और मेरे काव्य-संग्रह 'जनतंत्र का 'विक्रमशिला' की कुछ कविताओं में भी आप देख सकते हैं । लेकिन मुझे लगता है, साहित्य को इस भाषा के प्रयोग से अवश्य ही बचना चाहिए। खतरा उठाने का अर्थ अश्लील साहित्य का सृजन नहीं कहा जा सकता। गोपनीयता, सांकेतिकता साहित्य का संस्कार होता है ।

डॉ. हरगानवी : अमरेन्द्र जी, आपने नागार्जुन , कमला प्रसाद

बेखबर, बालेन्दु शेखर तिवारी, श्यामसुन्दर घोष के नाम लिए । यहाँ मैं आपसे यह जानना चाहूँगा कि व्यंग्य क्या समकालीन काव्य की एक विशिष्ट पहचान है, और साहित्य में इसकी कितनी उपयोगिता है ?

डॉ. अमरेन्द्र : दरअसल आज हमारे देश में जैसी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक विसंगतियाँ उभर आई हैं, उसका चित्रण साहित्य में व्यंग्य का कारण है, भले ही यह व्यंग्य किसी कवि में कम और किसी में बहुत तेज दिखाई पड़े । व्यंग्य विसंगतियों को उभार कर रखने में बहुत सहायक होता है, लेकिन इसका मतलब यह भी नहीं कि जिस कवि के काव्य में यह गुण नहीं, वह काव्य नहीं । हास-परिहास का यह गुण काव्य के लिए अनिवार्य होता, तब तो इसे प्रसाद, दिनकर, महादेवी, पंत, नेपाली जैसे कवियों की कविताओं में भी होना चाहिए था । लेकिन ऐसा नहीं है । मुझे लगता है कि व्यंग्य के लिए बहुत कुछ साहित्यकार का व्यक्तित्व ही कारण बनता है । श्रेष्ठता- बोध और विरोध, आक्रमण के गुण जिस साहित्यकार में अधिक होते हैं, उसके साहित्य में व्यंग्य की मात्रा उतनी ही प्रखरता के साथ देखी जायेगी । शांत स्वभाव और गंभीर व्यक्तित्व का साहित्यकार व्यंग्य की भाषा को नहीं पकड़ता है । कहीं-कहीं हास्य-विनोद की शैली में कुछ कहता चले, यह अलग बात है। चूँकि व्यंग्य काव्य में हास-परिहास, आक्रमकता, कवि का श्रेष्ठता-बोध बहुत उग्र होता है, शालीनता का अभाव-सा होता है, इसी से इसे साहित्य में अभी ठीक से सम्मान भी नहीं मिल पाया है, ऐसी स्थिति में इसे समकालीन काव्य की एक विशिष्ट पहचान या प्रवृत्ति स्वीकारना कहाँ तक संगत होगा, मैं नहीं कह सकता । फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि हमारा समय इतना निर्दय, इतना बेढंग हो गया है कि उसका रूप-चित्रण व्यंग्य की भाषा से ही संभव है, और जिसके सहारे अनीति के अत्याचार पर नियंत्रण भी कुछ-कुछ संभव है । व्यंग्य में आक्रमण और इलाज की क्षमता तो होती ही है।

डॉ. हरगानवी : हिन्दी में व्यंग्य का वैसा भविष्य देखते हैं ?

डॉ. अमरेन्द्र : बहुत अच्छा भविष्य नहीं कहा जा सकता । व्यंग्य के प्रति जो प्रतिबद्धता हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, के. पी. सक्शेना, डॉ. श्याम सुन्दर घोष, डॉ. बालेन्दु शेखर तिवारी में दिखाई पड़ी या है,

वैसी प्रतिबद्धता अब मुझे दिखाई नहीं पड़ती । बहुत दिनों तक मेरे पास 'व्यंग्यम' नाम की एक पत्रिका आती रही, नहीं कह सकता कि वह निकलती भी है या नहीं । अभी हाल में ही बालेन्दु शेखर तिवारी के दो व्यंग्य संग्रह आए हैं, एक तो कविताओं का संग्रह है 'प्रणाम सर' और दूसरा व्यंग्य लेखों का संकलन 'भारत दुर्दशा का चित्रकार' । इन दोनों संग्रहों को पढ़कर यही लगा कि व्यंग्य की धार अभी सूखी नहीं है लेकिन परसाई और कमला प्रसाद बेखबर के नहीं रहने से इस धारा का वेग तो घटा ही है । बेखबर जी ने व्यंग्य को मजबूती देने के लिए जिस तरह से नाटक, कविता, कथा का सृजन किया, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता और जिस तरह से डॉ. श्याम सुन्दर घोष ने व्यंग्य साहित्य को स्थापित करने के लिए लगातार लेखन किया, वैसी सक्रियता भी अब नहीं दिखती । सभी पुराने व्यंग्यकार शिथिल पड़ रहे हैं, और नये व्यंग्यकार दूर-दूर तक नहीं दिखते। इधर फेसबुक पर मुन्ना पाण्डेय और बजेन्द्र गर्ग के दोहे व्यंग्य के भविष्य के प्रति आश्वस्त तो करते हैं, लेकिन इनकी संख्या ही कितनी है !

डॉ. हरगानवी : अगर आप से कहा जाए कि १९०० से २०१५ के बीच की २५ हिन्दी कहानियों का चयन करें, तो वे कहानियाँ कौन-कौन-सी होंगी?

डॉ. अमरेन्द्र : यह काम बहुत कठिन है, कारण कि १९०० से २०१५ के बीच जितने कथाकार हुए उनमें २५ कथाकारों को चुनना ही कठिन है; कहानियों की बात तो छोड़ दीजिए । मैं जब अपने आसपास के कहानीकारों की ओर देखता हूँ, तो यह देखकर आश्चर्य होता है कि हिन्दी कथा साहित्य के इतिहास में इनके नाम भी कहीं नहीं मिलते। इसका अर्थ यह नहीं कि इनकी कहानियाँ राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, मन्नू भण्डारी, उषा प्रियंवदा या भीष्म साहनी से कम हैं, बात यह है कि इन कहानीकारों की पकड़ न तो महानगर की पत्रिकाओं पर है, और न कथालोचकों या इतिहास लेखकों पर। इसीसे इनकी कहानियों के बारे में तो क्या, इन कहानीकारों के बारे में भी कथालोचकों को पता नहीं । नहीं तो क्या कारण है कि डॉ. शीतल अवस्थी, डॉ. मृदुला शुक्ला, डॉ. निरुपमा राय, श्रीकेशव, कांता सुधाकर, सदाशिव सुगन्ध, शिव कुमार शिव,

अनिरुद्ध प्रसाद विमल, रंजन, सुरेन्द्र प्रसाद यादव, जैसे कई कहानीकारों की कहानियाँ कथा साहित्य के इतिहास में कहीं दर्ज नहीं मिलतीं, न इनके नाम । लेकिन इससे क्या होता है । अगर सौ, सवा सौ वर्षों के बीच की कहानियों में से मुझे २५ कहानियाँ ही चुननी हो, तो ये कहानियाँ होंगी (अंगुली पर गिनते हुए कहते हैं) गुलेरी की कहानी 'उसने कहा था', प्रेमचन्द की 'शतरंज के खिलाड़ी', प्रसाद की कहानी 'आकाशदीप' जैनेन्द्र की कहानी 'नीलम देश की राजकन्या' उग्र जी की कहानी 'गंगा, गंगदत्त और गांगी', यशपाल की कहानी 'दूसरी नाक' अज्ञेय की कहानी 'शरणदाता, मोहन राकेश की कहानी 'मलवे का मालिश' धर्मवीर भारती की कहानी 'बन्द गली का आखरी मकान' मन्नू भण्डारी की कहानी 'यही सच है', निर्मल बर्मा की कहानी 'परिन्दे' कमलेश्वर की कहानी 'राजा निरवंशिया' भैरव प्रसाद गुप्त की कहानी 'कंठी', डॉ. मधुकर गंगाधर की कहानी 'बरगद', ज्ञानरंजन की कहानी 'घंटा' जसवंत सिंह विरदी की कहानी 'माँ को लिखा पत्र', श्रीकेशव की कहानी 'सबसे बड़ा झूठ' डॉ. मृदुला शुक्ला की कहानी 'कहानी एक बुरी लड़की की', अनिरुद्ध प्रसाद विमल की कहानी 'करवट', सदाशिव सुगंध की कहानी 'ज्ञानसिंह', सुधा ओम ढींगरा की कहानी 'आग में गर्मी कम क्यों है' सुरेन्द्र प्रसाद यादव की कहानी 'मगरी', शिव कुमार शिव की कहानी 'चलावा', रंजन की कहानी 'तो सलाम मेरे दोस्तो' और डॉ. आभा पूर्वे की कहानी 'चन्दन जल न जाए' ।

डॉ. हरगानवी : आप की रचनाएँ आप पर कैसे प्रभाव डालती हैं ?

डॉ. अमरेन्द्र : हरगानवी साहब, किसी की रचनाएँ उस कवि के लहू से जनमती हैं । यह भी हो सकता है, कि कोई रचनाकार अपने व्यावहारिक जीवन में बिलकुल अलग दिखे, एक ऐसा आदमी जिसके प्रति श्रद्धा तो नहीं ही हो सकती, लेकिन उनके साहित्य में, उनकी रचनाओं में उदात्त विचार मिलते हैं, तो आप कहेंगे कि यह कैसे माना जाय कि ये रचनाएँ उनके लहू से जन्मी हैं, जन्मी होतीं, तो उनका स्वर अमानवीय होता । आप का यह प्रश्न अवश्य झटका देने वाला है, लेकिन मेरी ऐसी मान्यता है कि एक रचनाकार चाहे जैसा भी होता है, वह जब रचनाकार की भूमिका में होता है, तब उसका चित्त सिर्फ सत्य के साथ ही होता

है, और उसी का समर्थन करता है, जो सम्पूर्ण मानव के कल्याण से जुड़ा होता है, और ऐसा भाव तो हर समय सुख ही देने वाला है । जिस समय यह भाव, यह विचार कागज पर उतरता है, उस समय भी, और उतर जाने के बाद भी हर हमेशा आप के चित्त को मधुमय बनाते रहता है । बल्कि वर्षों बाद मैंने जब अपनी रचनाओं को पढ़ा है, तो यह सोचकर मैं और भी पुलक से भर उठा हूँ, कि यह मैंने ही लिखी है क्या ? जिस तरह अस्त्र का धर्म सिर्फ हिंसा है, उसी तरह साहित्य का धर्म सिर्फ हित है, सत्य और सौन्दर्य का सृजन । यह अभिव्यक्त होने के पूर्व भी पुलक पैदा करता है, और सृजन के बाद भी ।

डॉ. हरगानवी : 'श्रेष्ठ हिन्दी कविताएँ' में मैंने आपकी एक लम्बी कविता 'पहचान' प्रकाशित की । मैं समझता हूँ, हिन्दी में ऐसी श्रेष्ठ लम्बी कविताओं की संख्या बहुत ज्यादा नहीं है । इसे निराला की 'राम की शक्ति पूजा' अज्ञेय की 'असाध्य वीणा, मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' धूमिल की 'पटकथा' के बाद लिखी गई हिन्दी में एक श्रेष्ठ नाटकीय कविता कहना चाहिए, जिसकी चर्चा नहीं हुई । इसे आप किस नजरिये से देखते हैं ?

डॉ. अमरेन्द्र : कुछ दिक्कत नहीं । आज आप इस कविता के महत्व को रेखांकित कर रहे हैं, कल आनेवाला समय करेगा । दशकों पूर्व लिखी गई इस कविता पर अगर आलोचकों का ध्यान नहीं गया, तो नहीं गया, लेकिन इस कविता को यह सौभाग्य प्राप्त है कि डॉ. गंगेश गुंजन ने स्वयं इसका रेडियो पर पाठ किया था, यह आज की बात नहीं, दो दशकों से भी पूर्व की बात है, और इस कविता की चर्चा हुई न हुई हो, मुझे इस बात का संतोष है कि मैं जिस कालखण्ड को यहाँ समेटना चाह रहा था, वह मिथ और प्रतीकों में होने के बावजूद स्पष्ट है, मुखर है ।

डॉ. हरगानवी : आज सबसे पहले मैं आप से यही जानना चाहूँगा कि अच्छे रिसर्च के लिए आप क्या कुछ जरूरी समझते हैं ? आज विश्वविद्यालय में जिस तरह का रिसर्च हो रहा है, उससे आप कितना संतुष्ट हैं ?

डॉ. अमरेन्द्र : आप के इस प्रश्न के उत्तर में मैं अपनी ही रिसर्च-कथा सुनाना चाहूँगा । मेरे शोधकार्य के निदेशक थे, डॉ. विजेन्द्र

नारायण सिंह । मैंने बिना यह समझे कि सच्चिदानन्द धूमकेतु का सम्पूर्ण साहित्य एक होकर भी इस लायक बन पाता है कि नहीं कि उस पर शोधकार्य किया जा सके, मैंने अपनी इच्छा गुरुदेव के सामने रख दी—शोधकार्य करूँगा, तो धूमकेतु के साहित्य पर ही । स्वयं गुरुदेव को धूमकेतु के साहित्य के बारे में मालूम नहीं था, तो उन्होंने मान भी लिया कि धूमकेतु समान्तर कथा के धूमकेतु ही होंगे । उन्होंने मेरे शोध का शीर्षक रखा 'प्रेमचन्दोत्तर कथा साहित्य के संदर्भ में सच्चिदानन्द धूमकेतु का विशेष अध्ययन' शायद उन्हें कहीं कुछ शंका हुई होगी, तभी तो उन्होंने प्रेमचन्दोत्तर पद जोड़ दिया था । फिर कई साल बीत गये । गुरुदेव हैदराबाद चले गये थे, वहीं किसी विश्वविद्यालय के अध्यक्ष बन कर और मैं अपने शोध का शीर्षक तक भूल गया था । जब सी. एन. डी. कॉलेज में अध्यक्ष पद को बचाने के लिए पी. एच. डी. डिग्री की जरूरत हुई, तो दो महीने के भीतर ही पूरा पोथा तैयार कर लिया । उस समय मेरी छोटी बेटी वसुन्धरा का जन्म हुआ था, यद्यपि पुरुषों का सोयरीगृह में प्रवेश निसिद्ध है, लेकिन मैं उसी घर में बैठा लगातार रिसर्च को पूरा करने में लगा रहा था। शोध को दोबारा देखा भी नहीं, और सीधे गुरुदेव के पास निबंधित डाक से भेज दिया । लिफाफा में उतनी की कीमत की टिकटें भी एक बड़े से लिफाफे में चिपका कर, जिस पर मैंने अपना पता भी लिख दिया था, रख दिया था। और पन्द्रह दिनों के बाद से ही रोज-रोज एक पोस्टकार्ड डालना शुरू कर दिया, जिसमें एक ही आग्रह होता—सामग्री को देखकर शीघ्र लौटाने की कृपा करें। यह पत्रयज्ञ पन्द्रह रोजों का रहा होगा, कि एक दिन सामग्री लौटी, जिसमें सामग्री ही नहीं, मेरा वह पर्याप्त टिकटवाला लिफाफा भी साथ था, जिसपर मेरा लिखा पता चमक रहा था—अमरेन्द्र कुमार घायल, द्वारा दिनेश चन्द्र घोष, नया टोला, भीखनपुर गुमटी न. १ भागलपुर ८१२००१ (बिहार) शोधकार्य को उलटा पुलटा कर देखा । शायद उन्हें भी मेरे दीर्घ परिश्रम का पता लग गया था, इसी से उन्होंने उसमें कुछ जोड़ना-घटाना उचित नहीं समझा था, कहीं-कहीं एकाध अक्षर को लाल कलम से घेर दिया था, जिन्हें मुझे ठीक कर लेना था । मैंने पोथे को टंकित कराया और विश्वविद्यालय में जमा कर आया । बीच में कई व्यवधानों को छोड़ कर आगे की बात बताता

हूँ, कि मुझे मौखिकी के लिए न केवल मगध विश्वविद्यालय के हिन्दी अध्यक्ष डॉ. पूर्णमासी राय के प्रश्नों से गुजरना पड़ा, बल्कि बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय वाराणसी के हिन्दी विभाग के डॉ. विजयपाल सिंह के प्रश्नों से भी । इनके प्रश्न दो-चार से ज्यादा न रहे, वे भी इतने हल्के कि मुझे इसकी उम्मीद भी नहीं थी । हो सकता है कि मेरी थीसिस की स्थिति देख कर ज्यादा पूछना आवश्यक नहीं समझा हो, लेकिन इससे तो यही सिद्ध होता है कि डॉ. राय और डॉ. सिंह जैसे विद्वान भी बिना कुछ पूछे कमजोर को योग्य सिद्ध करते रहे, तो शोध कार्य का क्या महत्व रहा । आज तो और भी बुरी स्थिति है । मैंने कई थीसिसों को देखा है, ये थिसिस तो मेरी थीसिस से भी नीचे की लगी हैं। भला ऐसे शोधकार्य से किस भाषा और साहित्य का भला हो सकता है । जैसे मैं बचपन में गाय पर लेख लिखता था, दो सींग, दो आँखें, एक पूंछ, चार टाँगे, कुछ इसी प्रकार की थीसिस आज की होती है। आखिर शोधकार्य भी समीक्षा ही है । समीक्षा यानी सभी कोनों से जिसकी विवेचना हुई हो, और सम्यक ढंग से हुई हो । आज की थिसिस में ये गुण नहीं हैं, ऐसा तो नहीं है, लेकिन संतुष्ट नहीं करती । कारण कई हो सकते हैं। फिर कहूँगा, दर्द एक जगह हो तो कहें दर्द इधर होता है ।

डॉ. हरगानवी : पहले के साहित्य और आज के साहित्य में अन्तर ?

डॉ. अमरेन्द्र : है, जितना पहले के आदमी और आज के आदमी में है । पहले व्यक्ति के पास संवेदना की सबसे बड़ी सम्पत्ति थी, वह आज के मनुष्य में भी वैसा ही है, ऐसा मैं नहीं कह सकता । बचपन में देखा है, मेरे घर के बगल में एक सौ वर्ष के एक आदमी ने जब अपनी देह छोड़ी, तो गाँव भर के लोग उस घर के बाहर में आ जुटे थे। आज वह स्थिति नहीं रह गयी है, कंधा देने के लिए दस-पन्द्रह बुलाने पर जुट जाएँ, तो बहुत । समय बहुत बदल गया है । आदमी ने समस्याओं में अपने को उलझा लिया है। संवेदना ने जीवन का साथ छोड़ दिया है । जटिलताएँ उभर आई हैं, और इन नई परिस्थितियों का साहित्य पर भी अच्छा खासा प्रभाव पड़ा है । जो सरलता 'पंच परमेश्वर' में थीं, 'वह जिन्दगी और जोंक' में नहीं है। बात सिर्फ कथानक की नहीं है, आधुनिक

जीवन की जटिलताओं ने अभिव्यक्ति के शिल्प पर भी अच्छा खासा प्रभाव छोड़ा है । आप सुदर्शन की कहानी 'हार की जीत' राधिका रमण सिंह की कहानी 'दरिद्रनारायण' के शिल्प की तलाश, कमलेश्वर की कहानी 'राजा निरवंशिया' या शिवकुमार शिव की 'चलावा' कहानी में नहीं ढूँढ़ सकते । ये बदलाव कथा तक ही नहीं, कविता तक पसरा हुआ है । नतीजा यह हुआ कि संवेदना से साहित्य का संबंध छूट रहा है, विचार का बोझ साहित्य के माथे पर थोप दिया गया है । सिर्फ बुद्धि से क्या साहित्य को चलाया जा सकता है ? हम क्यों नहीं सोचते कि श्याम सुन्दर घोष की काव्य कृति 'अरण्यायन' पाठकों पर जितना प्रभाव छोड़ती है, वह 'असाध्यवीणा' नहीं। किसी के कहने से क्या होता है कि 'कामायनी' का महत्व इसलिए है कि वह पाठ्यक्रम में शामिल है ।

डॉ. हरगानवी : अमरेन्द्र जी, इसके पहले कि कहानी को आप किस तरह परिभाषित करेंगे, मैं यह जानना चाहता हूँ कि आप की नजरों में उपन्यास विधा क्या है ?

डॉ. अमरेन्द्र : अच्छा तो होगा कि दोनों के संबंध में मैं अपनी कुछ बातें रख दूँ, जो दोनों विधाओं से संबंधित हैं। मुझे कुछ ऐसी कहानियाँ पढ़ने को मिलीं, जिनमें वर्णन का विस्तार कुछ ऐसा है, जैसे लिखने के समय लेखक यह भूल गये हों कि वे कहानी लिख रहे हैं, उपन्यास नहीं। कहानी में वर्णन देश-काल के संकेत के लिए होता है, हम इस तथ्य को बिना समझे कहानी को लम्बा करने के लोभ में जैसे ही वर्णन के विस्तार में जाते हैं, हमारा बंध कहानी से छूट जाता है । वर्णन का विस्तार उपन्यास के लिए अलंकार है। इसके बिना उपन्यास उपन्यास हो भी नहीं सकता । कोई उपन्यासकार किसी वस्तु की बड़ी सूक्ष्मता से वर्णन करता है, लेकिन यही छूट कहानीकार को नहीं होती । मैं दूसरे कहानीकारों की बात नहीं करके कहानीकार रंजन की कहानी अक्सर 'उसके साथ ही ऐसा क्यों होता है' की ही बात करता हूँ, इसमें वर्णन का विस्तार कुछ ऐसा है कि कहानी का शिल्प ही उखड़ गया है । कहानीकार का अन्तिम लक्ष्य एक गहन संवेदना को झंकृत कर देना होता है । मैंने एक गहन संवेदना की बात कही है । हमें भूलना नहीं चाहिए कि कहानी में लक्ष्य बिलकुल इकहरा है, उपन्यास तो दोहरे-तिहरे लक्ष्यों

को भी लेकर अग्रसित हो सकता है, होता है, इसी से उपन्यास में किसी एक घटना को पकड़ने का प्रयास नहीं होता, उसमें तो कई-कई कथाएँ साथ-साथ चलती, रुकती, और कुछ दूर चल कर नेपथ्य में भी चली जाती हैं । क्या हम ऐसा ही कहानी में भी कर सकते हैं ? एकदम नहीं । इसमें कोई दूसरी घटना आ भी जाती है, तो मुख्य घटना से बिलकुल गुथी रहती है । उपन्यास में यह अनिवार्य नहीं ।

डॉ. हरगानवी : आप ने कहानीकार रंजन की कहानी की कमी की ओर संकेत किया, लेकिन आप तो इनकी कहानियों के प्रशंसक भी हैं ।

डॉ. अमरेन्द्र : हूँ, लेकिन जो कमियाँ उनकी कहानियों में हैं, उनकी ओर संकेत करना गैरवाजिब तो नहीं । अब आप रंजन की सर्वाधिक लोकप्रिय कहानी 'तो सलाम मेरे दोस्तो' को ही लें । यह कहानी उनकी ढेरों कहानियों के बीच बहुत प्रिय कहानी है । इसलिए नहीं कि कहानीकार ने उसमें मुझे भी एक पात्र बनाया है, बल्कि ऐसा करना इनके लिए अहितकर ही सिद्ध हुआ हो । इस कहानी में कथाकार मंटो मुख्य पात्र है, बाकी पात्र कहानीकार के मित्र हैं, या आसपास रहने वाले। इसमें कहानीकार का लक्ष्य जो है, वह बिलकुल अंत में अवतार लेता है, ना आरम्भ में हैं, ना मध्य में। आरम्भ और मध्य में तो इनके मित्र हैं। जो सबसे ज्यादा गहरे मित्र हैं, वे कहानी में ज्यादा जगह छेकते हैं। कहानी यहाँ पर या तो जीवनी बनने लगी हैं या रेखाचित्र, जिसकी कोई जरूरत नहीं थी। रंजन जी पहले सधे हुए चित्रकार हैं, इसी से उनका यह व्यक्तित्व कहानी में उभर आया, और इससे हुआ है यह कि कहानी में जिस कसावट की जरूरत थी, वह नहीं हो पाई है, बिखराव आ गया है।

डॉ. हरगानवी : तो, आप यह मानते हैं कि कहानी और रेखाचित्र में अन्तर होता है और कि रेखाचित्र कहानी नहीं हो सकता ।

डॉ. अमरेन्द्र : आपने बिलकुल सही समझा । अगर रेखाचित्र कहानी होता, तो महादेवी बर्मा के रेखाचित्र श्रेष्ठ कहानियों में गिने जाते, लेकिन ऐसा नहीं है ।

डॉ. हरगानवी : आखिर रेखाचित्र और कहानी में कोई खास विभाजक रेखा भी है क्या ?

डॉ. अमरेन्द्र : है, और वह है, रेखाचित्र में किसी कहानी या संदेश का अभाव । रेखाचित्र में व्यक्तित्व को रेखा देने का प्रयास होता है, किसी विशिष्ट घटना को उद्‌घाटित करने की कोशिश नहीं, जो कहानी के लिए जरूरी है । कहानी अन्ततोगत्वा किसी महत्वपूर्ण संदेश को संवेदना के स्पर्श से उभारती है, रेखाचित्र का यह उद्‌देश्य नहीं होता । रंजन की कहानी 'तो सलाम मेरे दोस्तों' में रेखाचित्र के हस्तक्षेप के बावजूद वहाँ एक घटना है, और घटना से एक विशिष्ट संदेश को, संवेदना के स्पर्श से, स्थापित करने की कलात्मक कोशिश भी, इसी से इस कहानी को, कमियों के बावजूद, हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियों में एक गिनता हूँ, भले ही रेखाचित्र या वर्णन के विस्तार के कारण कहानी का संदेश तीव्रता के साथ अंत प्राप्त नहीं कर पाता ।

डॉ. हरगानवी : और कहानी का संबंध संस्मरण से किस हद तक आप स्वीकारते हैं ?

डॉ. अमरेन्द्र : वैसे साहित्य की ऐसी कौन-सी विधा है जिसका एक दूसरे से कुछ-न-कुछ कोई संबंध नहीं होता । कहानी का संबंध संस्मरण से है, लेकिन कहानी संस्मरण नहीं है । जिस तरह संस्मरण आत्मनिष्ठ या वस्तुनिष्ठ होता है, कहानी भी होती है, लेकिन संस्मरण का स्वरूप बहुत कुछ आत्मकथा या जीवनी-सा होता है, और इससे अधिक वह निबंध के करीब अधिक है, जिसमें भावुकता की प्रधानता अधिक होती है । क्या आप यह मानते हैं कि कहानी निबंध हो सकती है और कहानी में जिस तरह कथा तत्व की तलाश करते हैं और एक एकान्तिक प्रभाव की, वैसा ही संस्मरण में भी करते हैं क्या ? हमें कहानी और संस्मरण के इस विभाजन रेखा को समझना चाहिए ।

डॉ. हरगानवी : आप अपनी कहानी का लेखन किस प्रकार करते हैं ?

डॉ. अमरेन्द्र : मैं तब तक कहानी लिखने की बात नहीं सोचता, जब तक कि कहानी के लायक कोई वस्तु न मिल जाए, और वह लेखन के लिए बहुत बेचैन न करे । ऐसा जब होता है, तो उस वस्तु को सुगठित रूप देने के लिए मेरी कल्पना सक्रिय हो जाती है । और जब तक उसका कोई प्रभावपूर्ण अंत नहीं मिल जाता, कहानी लिखना आरम्भ नहीं करता।

मेरे लिए कहानी का अंत उतना ही प्रमुख होता है, जितना कि कहानी की पूर्णता के लिए एक प्रमुख घटना, एक प्रमुख पात्र और कसाव की त्रिवेणी की जरूरत होती है ।

डॉ. हरगानवी : लेकिन कथालोचक अब घटना को उतनी प्रमुखता नहीं देते।

डॉ. अमरेन्द्र : कथालोचक कहानी के भाग्यविधाता नहीं हैं । हरगानवी साहब, आज कहानी में इसी नई धारणा के कारण घटना का अभाव-सा हो गया है, इससे कहानी को स्मृति में बनाए रखना कठिन हो गया है । पहले की कहानियाँ आज भी स्मृति में ताजा हैं, आखिर क्यों ? जो इस बात को समझते हैं, वे घटनाओं की उपेक्षा करते नहीं चलते । प्रेमचन्द की कहानी 'कफन', सुदर्शन की 'हार की जीत', अज्ञेय की 'शरणदाता', डॉ. मृदुला शुक्ला की कहानी 'तुम लौट जाओ वसन्त', अनिरुद्ध प्रसाद विमल की कहानी 'करवट', डॉ. आभा पूर्वे की कहानी 'खोई हुई लड़की का खत', शिवकुमार शिव की कहानी 'मूर्दा' को भूलना क्यों कठिन होता है, इसके कथातत्व के कारण ही । मैं फिर रंजन की कहानी 'तो सलाम मेरे दोस्तों' की बात करूँगा, यहाँ भी एक प्रमुख घटना है, भले ही कल्पनाश्रित है ।

डॉ. हरगानवी : 'तो सलाम मेरे दोस्तो' में जिस तरह के रहस्य-रोमांच का परिवेश कहानीकार ने खड़ा किया है, उससे कहानी पर कोई प्रश्न खड़ा होता है ?

डॉ. अमरेन्द्र : कोई उठाता भी है, तो इससे क्या होता है । तब तो उदय प्रकाश की कहानी 'तिरिछ' पर भी प्रश्न उठना चाहिए । कथा में अगर औतसुक्य का योग नहीं है, तो उसे कौन पढ़ना चाहेगा । कथा में जादुई यथार्थ की बात क्यों उठी, फेंटेंसी प्रधान कहानी की चर्चा ने जोर क्यों पकड़ा, कुछ तो कारण होगा । अगर रंजन की कहानी 'तो सलाम मेरे दोस्तों' से उस जादुई अंश को हटा दें, तो उस कहानी की रोचकता ही शेष हो जायेगी, और तब कहानीकार जिस संदेश का प्रभाव छोड़ना चाहता है, उसे पढ़ेगा भी कौन ? मेरी एक अप्रकाशित कहानी है 'अमुआ पेट' अप्रकाशित इसलिए है कि अब पांडुलिपी नहीं मिलती। इधर-उधर हो गयी। मेरे एक साहित्यकार मित्र डॉ. विनय कुमार सिंह ने कभी बताया

था कि उनके इलाके में ऐसे भी गर्भ पाये जाते हैं जो आम के बगीचे के रखवारों के शिकार हैं । इस बात ने मुझे बहुत झकझोर कर रख दिया था, और फिर कल्पना ने एक जादुई स्पर्श से इसका अंत गढ़ा, तो कहानी इस तरह बनी, एक औरत अपने पति को बताती है, उसने बीती रात में एक सपना देखा है कि वह बगीचे में दो-एक पके गिरे आम को लेने के लिए घुसी है, उस बगीचे का मालिक उसे और भी आम ले लेने को बुलाता है, लेकिन उसकी नीयत को समझकर वह भागती है, और घर चली आती है । उसे नींद आ जाती है, तो उसके पास आम का पेड़ उग जाता है, और पेड़ की जड़ें उसे घेरने लगती हैं, उसके तीन बच्चे आम की गुठलियों में बदलकर जड़ों में दब जाते हैं । इतना कह कर वह अपने पति के सम्मुख रोने लगती है । इस पर आश्चर्य प्रकट करते हुए उसका मजदूर पति कहता है, मैंने भी यही सपना देखा है, लेकिन इससे आगे भी देखा है कि वृक्ष की जड़ों से जैसे ही तुम घिरने लगती हो, मैं कुल्हाड़ी उठा लेता हूँ, और जड़ों को ही नहीं, वृक्ष को भी खंड-खंड कर देता हूँ। मजदूर पति यह भी बताता है कि उसने यह सपना रात में नहीं, भोर होने के समय नींद में देखा है ।

डॉ. हरगानवी : बहुत खूब । इस कहानी का सृजन काल क्या होगा ?

डॉ. अमरेन्द्र : यह काल १९८६ का रहा होगा ।

डॉ. हरगानवी : क्या आप अपने कथा साहित्य में इन सब बातों का ख्याल रखते हैं, जिसकी ओर आपने पहले संकेत किया है ?

डॉ. अमरेन्द्र : यह तो आप बतायेंगे, या फिर कोई दूसरे कथालोचक । लेकिन इतनी तो बात है कि जब मैं इन्हें कहानी के लिए जरूरी समझता हूँ, तो मेरी कहानियों में भी वे बातें मिल ही जायेंगी । लेकिन आप अगर एक- एक कर सभी गुणों को खोजना शुरू कर देंगे, तब आप मुझे असफल कहानीकार ही घोषित करेंगे । यह मैं पूरे विश्वास के साथ कहता हूँ । कहानी में किसी एक बात की कमी हो सकती है, लेकिन क्या इसी कारण आप किसी कहानी को खारिज कर देंगे ? वैसे भी कोई लेखक किसी रचना को विधागत सारे गुणों को समक्ष रख कर रच सकता है क्या ? फिर भी मैं कहूँगा कि कहानी का लचर अंत कहानी

की दुर्दशा कर देता है, इसी से इसके प्रभावी अंत के प्रति मैं बहुत सावधान रहता हूँ । अब इसमें कितनी सफलता मिली है, इसका निर्णय तो पाठक ही कर सकते हैं या कथालोचक।

डॉ. हरगानवी : कहानी लेखन में आपकी जो रचना प्रक्रिया होती है, क्या उसी रचना प्रक्रिया को उपन्यास में भी उठाते हैं ?

डॉ. अमरेन्द्र : अगर कुछ साम्य है, तो दोनों में एक मुख्य कथा बिन्दु को ले कर । इसके बाद तो दोनों की रचना प्रक्रिया बिलकुल अलग-अलग चलती है । जब मैं अंगिका भाषा का उपन्यास 'जटायु' लिख रहा था, तब तो मेरे समक्ष मूल कथा का भी कोई सुगठित रूप ही नहीं था, जो कुछ था, वह धुंधला-धुंधला-सा । विषय था वन-संरक्षण । प्रारूप भी तैयार नहीं किया और लिखना शुरू कर दिया । विषय ने पढ़ने और सामग्री जुटाने को विवश किया, वह सब लेखन के साथ-साथ चलता रहा । जरूरत के हिसाब से पात्र जुड़ते गये और वन-समस्या की गंभीरता को विधाता की हत्या में दिखा कर मौन हो गया । बाद में जब हिन्दी में सलेस भगत लिखा, तो कहानी मेरे दिमाग में थी । शुरू किया और लिख डाला, कहानी को विश्वसनीय बनाने के लिए, आधुनिकता के समावेश के लिए मानसिक प्रयास साथ-साथ चलते रहे । यह भी कभी नहीं हुआ कि पूर्ण होने पर उसे दोबारा पढ़ भी लूँ । प्रूफ भी घर के लोग ही कर देते हैं । बहुत से लेखक लिखे को चार-पाँच बार लिखते हैं, सुधार करते हैं । मैं ऐसा नहीं कर पाता। मुझे लगता है कि एक लेखक जितनी बार अपनी रचना का पुनर्लेखन करेगा, वह रचना उतनी बार बदलती जायेगी और आखिर में वह वैसा रह ही नहीं जायेगी, जिस रूप में उसे होना था । मनाजिर साहब, आप यह मानिए कि मुझमें पुनर्लेखन का साहस भी नहीं । इसका एक मुख्य कारण यह भी हो सकता है, कि मुझे जो कहना होता है, उसे दिमाग में स्थिर कर लेता हूँ, और जो लेखन के क्रम में नया जुट जाता है, जुड़ जाता है । चूँकि उपन्यास लेखन का कार्य महीनों तक चलता है, इसी से कुछ नये का जुड़ जाना स्वाभाविक है । कहानी मैं एक बैठक में लिखता हूँ, नहीं पूरी होती, तो उसी दिन पूरा करने की कोशिश करता हूँ । नहीं कर पाता, तो वह कहानी पूरी हो भी नहीं पाती ।

डॉ. हरगानवी : आपने अनुवाद कार्य भी खूब किया है । क्या अनुवाद कार्य जरूरी है ?

डॉ. अमरेन्द्र : बेहद जरूरी है । कोई यह दावा नहीं कर सकता है, कि दुनिया भर की अच्छी जानकारियाँ सिर्फ उसकी भाषा में ही हैं, और फिर अच्छी जानकारियाँ पाने के लिए दुनिया भर की भाषाओं को सीखा भी नहीं जा सकता । मैं संस्कृत नहीं जानता, अंग्रेजी भी जैसे-तैसे पढ़-समझ लेता हूँ । लेकिन इन भाषाओं के साहित्य को पढ़ा है, और यह संभव हो सका है, अनुवाद कार्य के कारण । आप के बाल साहित्य, जो उर्दू में लिखे गये हैं, अगर उनका अनुवाद मैंने अंगिका में नहीं किया होता, तो उर्दू नहीं जाननेवाले अंगिकाभाषी ऐसे रोचक बाल साहित्य के स्वाद से वंचित ही रह जाते । आज अगर देश की सभी भाषाओं के साहित्य का अनुवाद विभिन्न भाषाओं में संभव हो सका, तो सम्पूर्ण भारत सचमुच में अखंड भारत हो जायेगा । कोई अन्तर नहीं पड़ेगा कि इसके प्रांत दुर्गम पर्वतों, नदियों, वनों से अलग-थलग हैं । लेकिन यह अनुवाद कार्य आसान भी नहीं है, यह काम तो वही कर सकता है, जिसे उस भाषा का भी पूरा-पूरा ज्ञान हो, जिसके साहित्य को अनुवादक अनुवादित करना चाहता है । फिर इतना भी पर्याप्त नहीं है, अनुवाद की पुस्तक के प्रति अगर अनुवादक के सीने में रागात्मक संबंध नहीं है, तो वह उस पुस्तक का जो अनुवाद करेगा, वह नीरस ही होगा। प्राण मोहन प्राण ने जब मुझसे 'मधुशाला' का अंगिका में अनुवाद करने को कहा, तब तक मैंने मधुशाला को पूरा-का-पूरा पढ़ा भी नहीं था, और जब पढ़ा, तो उस कृति के प्रति एक मोह उत्पन्न हो गया, लगने लगा, इसका अनुवाद अंगिका में होना ही चाहिए, और फिर यह काम आसानी से होता चला गया । इसीसे मैंने कहा कि अनुवाद में सिर्फ दो भाषाओं का पूर्ण ज्ञान ही काफी नहीं होता, अनुवाद कार्य के प्रति रागात्मक संबंध का होना भी उतना ही आवश्यक है । कुछ ही दिनों की तो बात है । आपने अपने पिता की अत्यन्त पुरानी-सी, जिसकी स्याही भी चेहरे से उखड़-पुखड़ गयी थी, रंजन जी को दी थी, उसमें नई जान लाने के लिए। और उन्होंने उस तस्वीर को ऐसा बना दिया था कि आप अपने पिता को साफ-साफ पहचान पा रहे थे, यह मैंने आप के चेहरे से जाना था । यह किस तरह से संभव हुआ

था । क्या आप यह सोचते हैं कि बिना लगाव के यह कार्य संभव हो पाता ? भले ही रंजन जी इस कला के सिद्ध कलाकार शहर में समझे जाते हैं । मैं समझता हूँ कि नई तस्वीर देखकर जो सुख आपको मिला था, वही सुख किसी भाषा की अनुवादित कृति पढ़कर होना चाहिए, तभी वह अनुवाद कार्य सार्थक समझा जायेगा ।

डॉ. हरगानवी : अमरेन्द्र जी, आप कवि और कथाकार ही नहीं, कई महत्वपूर्ण कृतियों पर आप की विद्वतापूर्ण सभीक्षाएँ भी मिलती हैं। क्या समीक्षा से रौशनी मिलती है ?

डॉ. अमरेन्द्र : जैसे साधना के क्षेत्र में गुरु की आवश्यकता होती है, कुछ वैसा ही साहित्य को समझने में आलोचना मदद करती है, अगर गुरु पाखंडी नहीं हो, और आलोचना अज्ञानियों की उपज नहीं हो और कि रागद्वेष से मुक्त हो । इस रागद्वेष ने साहित्य के बड़े-बड़े कवियों का समय-समय पर बहुत अहित किया है । जिस समीक्षक की समीक्षा अच्छाइयों से मुँह फिराकर अपनी पसन्द की बात खोज कर उसका वर्णन इस तरह करती है कि वही मूल है, तो उस समीक्षा से पाठकों का हित क्या होगा । आजकल हिन्दी आलोचना में एक बुरी प्रवृत्ति यह आ गई है कि आलोचक भारी भरकम अप्रचलित शब्दों का प्रयोग करते हैं कि वे पाठकों की समझ से बाहर होते हैं, जिन पाठकों में एक मैं भी हूँ । शायद वे ऐसा करके अपनी विद्वता को प्रकट करना चाहते हैं, लेकिन वे यह नहीं समझते कि इससे वे पाठकों से कितने दूर चले जाते हैं । जो आलोचक विषय को समझते हैं, वे समझाने का भी प्रयास करते हैं, और कि वे समीक्षा के बोझिल शब्दों के प्रयोग से अपनी कमियों को छिपाए रखने की कोशिश नहीं करते हैं । गंगा में काई नहीं जमती, वह तो तालाबों के ऊपर जमती है । आज हमारे साहित्य में एक अजीब प्रथा चल पड़ी है, जिसको देखिए, वही मार्क्सवादी नजरिये से कृति को देखना शुरू कर देता है, भले ही उस कृति का संबंध उस 'वाद' से नहीं हो । मेरे ऐसे कई मित्र हैं जो उस 'वाद' के बारे में ठीक-ठीक से ज्ञान भी नहीं रखते, लेकिन उस 'वाद' की ऐसी व्याख्या करते हैं जैसे वे उस विषय के प्रकांड विद्वान हों और उसी ज्ञान के आधार पर कभी बच्चन को खारिज करते हैं, कभी अज्ञेय को, तो कभी मुक्तिबोध को युग का सर्वश्रेष्ठ कवि

बताते हैं, और कभी निराला को । मजे की बात है कि अपनी समीक्षाओं में वे ही समीक्षक मित्र कभी शैली को लेकर और कभी विषय को लेकर, मुक्तिबोध के खिलाफ हो जाते हैं, तो कभी निराला के। मैंने 'धर्मयुग' में कभी एक चुटकुला पढ़ा था कि जो ड्रायवर न तेज चले, न धीमे, न दायें, न बायें, तो समझिए वह आलोचक होगा । एक कृति के बारे में जब दो किस्म की आलोचनाएँ सामने हों, तो उस समीक्षा से पाठक को क्या रौशनी मिलेगी ? मुझे लगता है कि रोशनी तो उसी समीक्षा से मिल सकती है, जिस समीक्षा की जड़ें अपने देश की मिट्टी से जुड़ी हुई होती हैं। किराये की प्रतिभा और किराये की समीक्षाओं से न देशी साहित्य का भला होने वाला है, न समीक्षा का । रौशनी तो नहीं ही मिलने वाली है । रौशनी का क्या अर्थ है, कृति में विन्यस्त मूल्यों की तलाश, और उन मूल्यों को खोज करने से ही क्या, जो हमारे देश-काल की जड़ों से नहीं जुड़ें हैं।

डॉ. हरगानवी : पत्रिकाओं में छपी पुस्तक समीक्षा का संबंध क्या केवल तारीफ से होता है ?

डॉ. अमरेन्द्र : पत्रिकाओं में छपनेवाली पुस्तक-समीक्षा विज्ञापन के अतिरिक्त कुछ विशेष होती भी नहीं है, और विज्ञापन से आप समीक्षा की कितनी अपेक्षा कर सकते हैं । यह तो कुछ वैसा ही होगा कि टीवी पर वस्तुओं की खूबियों को बताने वाले विज्ञापन पर हम पूरी तरह भरोसा करें और बिना खोजबीन किए, उन वस्तुओं का इस्तेमाल करना शुरू कर दें । कभी ऐसी पुस्तक-समीक्षाओं का अपना महत्व रहा होगा, जब जीवन की व्यस्तताओं को देखते हुए रिव्यु का प्रचलन साहित्य के पाठकों की जिज्ञासाओं को शांत करने के लिए आरम्भ हुआ होगा, जिसमें पुस्तक के कथ्य और शैली के साथ उसकी सजावट-कसावट के आकर्षण को संकेत में समझाने का प्रयास समीक्षक करते होंगे । अब यह सब उद्देश्य कहीं हासिये पर है। जहाँ सम्पर्क ही ऐसी समीक्षा का आधार बन गया हो, रागद्वेष ईंट और गारे का काम करे, तब ऐसी समीक्षा से पाठकों का क्या भला होने वाला है । वैसे इस भीड़ में कभी-कभी अच्छी पुस्तक-समीक्षा भी मिल जाती है । और अच्छी पुस्तक समीक्षाओं का अभाव है, तो इसका भी कारण है । अब इतनी पुस्तकें छप रही हैं, कि सभी की

समीक्षाएँ संभव नहीं, और समीक्षकों पर समीक्षाओं के लिए दवाब भी बना रहता है, नतीजा यह होता है कि समीक्षक पुस्तक को पढ़ते नहीं, सूंघते भर हैं, और सूंघने से पुस्तक के बारे में क्या ज्ञान हो सकता है । आज लेखक लिखते भले गाँव में हैं, रहते हैं महानगरों में और समीक्षकों से जो चाहे लिखवा लेते हैं, और समीक्षकों को भी तो लेखकों के बीच ही रहना है, पाठकों के हित-अनहित से क्या लेना-देना । अधिकांश समीक्षक उन पुस्तकों की ही समीक्षा करना चाहते हैं, जो बाजार में खपने योग्य हैं, और फिर उनकी तारीफ में उम्दा से उम्दा कसीदे पढ़ देते हैं । और क्या ?

डॉ. हरगानवी : फिर आप की पसन्द से जुड़े कुछ सवाल कोई पसन्दीदा राजनेता ?

डॉ. अमरेन्द्र : इसका उत्तर तो पूर्व में ही प्रकारान्तर से दे चुका हूँ । जब राजनीति ही मधुमयी भूमिका में नहीं रह गयी है, तो उसके संचालक पर क्या भरोसा, और वे लोक के द्वारा कैसे पसन्द किए जा सकते हैं ? लेकिन जैसा मैंने पहले भी कहा है कि राजनीति में ऐसे कुछ लोग जरूर हैं, जो लोकहित की भूमिका से संचालित रहे हैं । यह कोई अर्थ नहीं रखता कि वे किस दल में हैं । दल में होना मजबूरी भी हो सकता है । आज तक मैं यह नहीं समझ पाया कि गोपाल सिंह नेपाली जब राष्ट्रीय कविताएँ लिखते हैं, तब वह राष्ट्रभक्ति के कवि बन जाते हैं, और ऐसी ही कविताएँ, बल्कि नेपाली की राष्ट्रीय कविताओं से अधिक ओजपूर्ण कविताएँ जब अटल बिहारी वाजपेयी लिखते हैं, तो वह कवि तक होने के अधिकारी नहीं होते । मैं नाम नहीं लूँगा । राष्ट्रीय ख्याति के एक कवि हैं, उन्हें मैंने जब कहा कि अटल जी की कविताओं में जो ओज है, जो राष्ट्रीयता है, उसकी तुलना में दो चार कवि और मिल जाए, तो बहुत है । इस पर उस ख्याति प्राप्त कवि ने जानते हैं, क्या कहा, मैं अटल बिहारी वाजपेयी का नाम तक नहीं लेना चाहूँगा । मनाजिर साहब, मैं आप से कहूँ, यह सोच भी एक किस्म की साम्प्रदायिकता है, शायद साम्प्रदायिकता से भी अधिक घातक और भयावह । अगर मैं यह कहूँ कि अटल बिहारी बाजपेयी राजनेता के रूप में मुझे बहुत प्रभावित करते रहे, अगर मैं आप को कहूँ कि राजनीति के कुछ हिस्से को

हटा कर देखें तो इंदिरा गाँधी ने मुझे कम प्रभावित नहीं किया, तो इसे आप किस नजरिये से देखेंगे ? मेरे लिए यह कोई मायने नहीं रखता कि अटल जी संघ के आदमी हैं, या जनसंघ के या फिर भारतीय जनता पार्टी के । इन्दिरा गाँधी का व्यक्तित्व कांग्रेस के कारण नहीं, यह उनकी अपनी पूंजी थी, जिससे उन्होंने विश्व की राजनीति तक को प्रभावित किया था। कुर्सी का मोह आदमी से बहुत कुछ अनैतिक कर्म करवा लेता है । इसका उदाहरण सिर्फ इन्दिरा गाँधी ही नहीं, इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं । काश इन्दिरा गाँधी इस मोह से बच पातीं, जिसका उदाहरण अटल बिहारी वाजपेयी ने इतिहास में रखा है । राजनीति जब दूषित होती है, तो उसकी साँसों में लोकहित की प्राणवायु नहीं, उससे सामाजिक विघटन और विध्वंश की अपानवायु निकलती है ।

डॉ. हरगानवी : राजनेताओं से अलग आप का पसंदीदा खेल और खिलाड़ी?

डॉ. अमरेन्द्र : मैं उस फिल्म को कभी नहीं छोड़ता था, जिसमें दारा सिंह की भूमिका हो या फिर रंधावा की । पहलवानी के दाव-पेंच के सामने मुझे कोई खेल आकर्षित नहीं करता, कबड्डी इसके बाद का खेल है । मैं जब गठीले बदन को देखता हूँ, तो मेरे सामने रामायणकालीन, महाभारतकालीन भारत की तस्वीरें घूमती हैं । ऐसे ही रहे होंगे, प्राचीन भारत के मजबूत और गठीले लोग । विपदाओं को चूर-चूर करते लोग। मनाजिर साहब, क्या आपको नहीं लगता, कि इस देश को स्वस्थ लोगों की कितनी जरूरत है । मुझे मालूम है कि आप क्रिकेट देखने के बहुत प्रेमी हैं, लेकिन मैं आप से ही पूछता हूँ, ये क्रिकेट के खिलाड़ी देश को क्या दे रहे हैं, कभी बहुत गहराई से सोचा भी है आपने ? गाँव में एक दारा सिंह हो, तो इलाका भर अपने को सुरक्षित समझता है । अगर आप कुस्ती को भी खेल समझ ले, तो मेरी पसन्द के खिलाड़ी हैं खली। और साक्षी मलिक ।

डॉ. हरगानवी : सुना है आप फिल्म देखने के बहुत शौकीन रहे हैं, आप की कोई पसंदीदा फिल्म ?

डॉ. अमरेन्द्र : 'पाकीजा' और 'गाईड'। मैंने 'गाइड' को दस बार से अधिक ही देखा होगा । जब भी देखता, तो हर बार नई लगती ।

लेकिन 'पाकीजा' को देखा, तो लगा, इससे बढ़िया कोई फिल्म नहीं हो सकती । पाकीजा में मीना कुमारी की भूमिका और उसमें गीत-संगीत का अद्‌भुत जादू, आज भी इस फिल्म के गीत को सुनता हूँ, तो पाँव ठहर से जाते हैं । फिल्में तो अनगिनत देखी हैं, 'हम पंछी एक डार के' से लेकर 'पाकीजा' तक, लेकिन 'गाइड' और 'पाकीजा' को मैं भूल नहीं पाता, न भूलने के लिए और भी कई फिल्म हैं जैसे, महल, नया दौर, गंगा-जमना, जिस देश में गंगा बहती है, मदर इंडिया, सन ऑफ इंडिया, मेरा नाम जोकर, आनन्द, जंजीर, साहब बीबी और गुलाम, मेरे महबूब ऐसी ही फिल्में हैं । फिर अचानक ही फिल्म से अरुचि हो गई । शायद यह अत्यधिक आसक्ति का परिणाम था । टी. वी. पर बस एक फिल्म देखी है, वह है पी. के. ।

डॉ. हरगानवी : आपका पसन्दीदा हीरो ?

डॉ. अमरेन्द्र : पुराने कलाकारों में राजकपूर, दिलीप कुमार और देवानन्द । बाद वाले के बारे में पूछेंगे, तो अमिताभ बच्चन और आमीर खान । लेकिन पुराने कलाकारों में राजकुमार को कोई कैसे भूल सकता है । आपने नायक के साथ अगर खलनायक के बारे में भी पूछा होता, तो मैं कहता प्राण और जीवन में किसे अधिक महत्व दूँ, जीवन तो प्राण के कारण है, और प्राण है, तो जीवन है ।

डॉ. हरगानवी : खलनायक के बारे में नहीं पूछा, लेकिन आपकी पसंदीदा हीरोइन के बारे में जरूर पूछूँगा ।

डॉ. अमरेन्द्र : देखिए, मनाजिर साहब, जैसे बैजन्तीमाला 'गंगा जमना' में जँचती हैं, वहीदा रहमान 'गाइड' में जँचती हैं, मीना कुमारी 'पाकीजा' में जँचती हैं, ये दूसरी फिल्मों में उसी स्तर पर प्रभावित नहीं करतीं । ऐसी तो एक ही हीरोइन थी, वह थी नर्गिस । नर्गिस का अभिनय, कला की दृष्टि से, चरम विकास पर था, जो दर्शकों को कला के उदात्त आनन्द की भूमि पर स्थिर कर देता ।

डॉ. हरगानवी : हाँ, बहुत लोग ऐसा ही मानते हैं । मैं समझता हूँ, आप की बातों से शायद ही कोई असहमत होगा । इसी संदर्भ में मैं एक और सवाल आप से पूछ लूँ, कि आपकी पसन्द के गायक कौन हैं?

डॉ. अमरेन्द्र : सहगल, मुहम्मद रफी और वर्मन दा की गायन

कला मुझे बेइन्तहा प्रभावित करती है । कभी ऐसा जमाना था कि मैंने अपने कमरे में इन तीनों के गाये गीत ही नहीं, बेगम अख्तर, नूरजहाँ और लता जी के स्वर में गाये प्रमुख गीतों के कैसेट सजा रखे थे । नींद आती ही नहीं, जब तक सहगल या नूरजहाँ के स्वर में खो न जाऊँ । ज्यादातर तो यही होता कि पाकीजा का कैसेट टेपरिकॉर्डर में फिट कर देता, बिलकुल मद्धिम स्वर में गीत गूँजता रहता, और मेरी बंद आँखों में नींद तैरती रहती ।

डॉ. हरगानवी : अब नहीं सुनते ?

डॉ. अमरेन्द्र : कैसेट का जमाना चला गया और नये जमाने की चीजों को चलाना नहीं जानता, यह मेरी सबसे बड़ी विवशता है । अकेलेपन से बचने के लिए छोटे पुत्र अभिनन्दन ने एक 'टैब' ला के दे दिया है, उसी में जगजीत सिंह की ढेर सारी गायी गजलें हैं, उन्हें ही सुनता हूँ, तो पुराने सुख को लौटा लेता हूँ, थोड़ा ही सही ।

डॉ. हरगानवी : बात जगजीत सिंह और गजल की आ गयी है, तो चाहता हूँ कि कुछ बात गजल पर भी हो जाये, यह इसलिए भी जरूरी है कि आप कथाकार, नाटककार होने के पहले गजलकार हैं, और साहित्य में आप की एक पहचान एक गजलगो के रूप में ही बनती है । तो सबसे पहले यही जानना चाहूँगा कि आपकी पहली गजल कौन-सी गजल है, और आपने गजल कब से कहना शुरु किया ?

डॉ. अमरेन्द्र : गजल कब और कैसे कहना शुरु कीया, इसकी भी एक कहानी है, १९६९ का कोई महीना और कोई दिन रहा होगा । लेकिन था वह गर्मी का मौसम । मुझे भागलपुर आना था । बाँका से छोटी गाड़ी पकड़ी और ढाका मोड़ चला आया, लेकिन वहाँ से भी भागलपुर पहुँचने के लिए कोई गाड़ी नहीं मिल रही थी । सोचा किसी ट्रक को ही पकड़ लूँ । सड़क के किनारे खड़ा होकर आती हुई दो एक ट्रक को रुकने का इशारा किया, लेकिन सीधे निकल गई, फिर सड़क पर दो कदम बढ़ कर रोकने का प्रयास किया लेकिन ट्रक वाले गाड़ी को बगल करके निकाल ले जाते । तभी मुँह से दो पंक्तियाँ निकलीं । सुनाता हूँ, सुनिए,

अपनी तकदीर पे मुझको तो हँसी आती है
मौत आती है तो कतरा के निकल जाती है ।

इसमें चार पंक्तियाँ और भी जोड़ी थीं, जिसके अन्त्यानुप्रास चौथी, छठी पंक्ति से मिलते थे । उस समय शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालय बाँका में तकी शायर नाम से शिक्षक होते थे । काफी निकटता थी मेरी । उन्हें जब दिखाया, तो उन्होंने मेरी पीठ थपथपाई और कहा, आप तो बढ़िया गजल कह सकते हैं। और मेरा हौसला ऐसा बढ़ा कि आखिर मैं गजल कहने लगा । आपात काल के दौरान मेरी प्रसिद्धि तो मेरी राजनीतिक गजलों के कारण ही बनी। गजल कहने का क्रम २००६ तक बना रहा।

डॉ. हरगानवी : और अब ?

डॉ. अमरेन्द्र : अब गजल नहीं कह पाता हूँ । लगता है, मुझे जो कहना था, जो कुछ कह सकता था, उसे कह गया हूँ । अब कहूँगा, तो उन बातों को दुहराऊँगा ही, और बातों को दुहराने से क्या फायदा ?

डॉ. हरगानवी : आपने अंगिका भाषा में एक छोटी-सी पुस्तक लिखी है, नाम है 'गजल रों पिंगल' । इस पिंगल शास्त्र में आपने उर्दू के कई छन्दों को हिन्दी के छन्द से अलग नहीं माना है । आखिर उर्दू और हिन्दी में कुछ तो अन्तर होगा, और अगर है, तो यह कैसे हैं ?

डॉ. अमरेन्द्र : राही मासूम रजा ने कभी 'धर्मयुग' के एक अंक में लिखा था कि गजल की जन्मभूमि भारत है, और दोहे से इसका विकास है । जब गजल की बात उठती है, तो न जाने क्यों राही मासूम रजा के वक्तव्य को जानबूझ कर अनदेखा कर दिया जाता है । लेकिन यहाँ बात है छन्द विधान की, तो देखिए, उर्दू में जितने भी साधारण यानी मुफरिद बहरें हैं, वे संस्कृत के 'गण' से बने छन्दों से अलग नहीं हैं । चार मफाईलुन से बनने वाले हजज को ही लें, तो हिन्दी में यही छन्द यगण के अन्त में एक गुरु रखकर इसकी चार बार आवृत्ति करें, तो हजज होगा। इसी तरह हिन्दी के तगण के अंत में एक गुरु रखकर इसकी चार आवृत्ति करें, तो उर्दू में जो रजज छन्द है, दोनों समान दिखेंगे । अब हिन्दी के रगण गण को लें, अगर इसके अंत में एक गुरु रख दें और इसे चार बार घुमाएँ, तो उर्दू में जिसे रमल कहते हैं, वही छन्द होगा । इनसे अलग हम उर्दू के बहर कामिल को ही लें, इसमें मुतफाइलन की चार आवृत्ति होती है । हिन्दी में यही रुकण तगण के अंत में एक गुरु के जोड़ने से हो जाता है । उर्दू के हजज और वाफर में क्या भेद है, मुझे

मालूम नहीं, हिन्दी में दोनों का निर्माण एक-सा है । जहाँ उर्दू के बहर मतकारब का प्रश्न है, वह तो हिन्दी के 'यगण' गण से कुछ भी भिन्न नहीं और न मतदारक यानी चार फाइलुन भी संस्कृतगण से कोई अलग कुछ लगता है । मुझे तो लगता है कि हिन्दी और उर्दू छन्दों में जो कुछ भिन्नता है, वह नामों को लेकर है, जिसे आप बहरे मुतकारिब कहेंगे, उसे संस्कृत में भुजंगप्रयात छन्द के नाम से जाना जाता है । हिन्दी में एक मात्रिक छन्द है, चौपाई । आप भी जानते हैं कि उर्दू में इसी छन्द का बहुत बड़ा नाम है, वह है मतदारक मस्मन मक्तूअ । अगर नामों के अन्तर को मिटा दिया जाए, तो मुझे लगता है, हिन्दी-उर्दू का भेद भी बहुत कुछ मिट जायेगा । यहाँ मैं एक बात और जोड़ना चाहूँगा कि संस्कृत में लघु-गुरु के अनुशासन का विशेष खयाल रखा जाता है लेकिन संस्कृत का वार्णिक छन्द जब हिन्दी में मात्रिक रूप धारण करके आता है, तब यहाँ गुरु का रूप बदला हुआ भी मिलता है । कहने का मतलब है कि यहाँ दो लघु मिलकर एक गुरु का रूप ले लेते हैं, यही बात हम उर्दू के छन्दों में भी स्पष्टता के साथ देख सकते हैं ।

डॉ. हरगानवी : यह अलग बात है कि इन दिनों आप गजल नहीं कह रहे, लेकिन पढ़ते तो जरूर होंगे । नये गजलकारों में आप किन्हें पसन्द करते हैं ?

डॉ. अमरेन्द्र : कई नाम हैं, जिनकी गजलें मुझे प्रिय लगती ये हैं—वशीरबद्र, छन्दराज है, रामदरश मिश्र, नूर मुहम्मद नूर, आशीष सिन्हा, ध्रुव गुप्त, जहीर कुरेशी, अदम गोंडवी, कुँअर बेचैन, विनोद तिवारी, चन्द्रप्रकाश भाया, शंकर मोहन झा, दीक्षित दनकौरी, चाँद शेरी, उषा यादव उषा, दिनेश तपन हैं, डॉ. उर्मिलेश हैं, हुस्न तबस्सुम निंहा, शिवनन्दन सिंह हैं, नरेन्द्र कुमार सिंह हैं, फिर वर्षा सिंह हैं, विज्ञान व्रत, चन्द्रसेन विराट जैसे कई कवि हैं, जिनकी गजलें मैंने ध्यान से पढ़ी है, पढ़ता हूँ । कुछ और प्रमुख नाम लूँ तो इसमें अश्वघोष, डॉ. कृष्ण कुमार प्रजापति, डॉ. सत्यानंद, राहुल शिवाय, डॉ. नीलम श्रीवास्तव, अशोक आलोक, भी शामिल हैं । मिथिलेश दीक्षित ने तो गजल के क्षेत्र में एक नया प्रयोग ही आरम्भ किया है, हायकु छन्द में गजल। यह प्रयोग कुछ ऐसा ही है, जैसे दोहा छंद में गजल कहने की शुरुआत। डॉ. आभा पूर्वे

ने इस दिशा में खूब काम किया है । आपने तो एक समय में उर्दू में इसे आन्दोलन का रूप ही दे दिया था । मेरी भी दोहा गजल आपने ही छापी थी। इधर 'विभोम स्वर' में कुछ गजलकारों को पढ़ रहा था। प्रखर मालवीय कान्हा, पूजा भाटिया, त्रिवेणी पाठक आशीष नैथानी काफी मजबूत गजलें कह रहे हैं ।

डॉ. हरगानवी : गजल उर्दू की एक प्रमुख काव्य विधा है, अब हिन्दी में भी उतनी ही लोकप्रिय हो गयी है फिर भी इस विधा के संबंध में कई विद्वान बहुत अच्छी राय नहीं रखते । आप गजल को किस नजरिये से देखते हैं?

डॉ. अमरेन्द्र : आप ने यह पूछ कर मुझे हिन्दी के एक आलोचक के उस टिप्पणी की याद दिला दी, जिन्होंने कहा था कि गजल कहना मोची का जूते में काँटी ठोकने की तरह है । काफिया-रदीफ बैठाते जाइए और गजल तैयार । यह बात नहीं कि यह एक व्यक्ति की राय हो, रामधारी सिंह दिनकर का भी गजल के प्रति कोई अच्छा ख्याल नहीं रहा। वह गजल के बारे में प्रायः कहते कि गजल भी कोई काव्य विधा है और कुछ पंक्तियाँ सुनाते,

तेरे आने को क्या कहिए
तेरे जाने को क्या कहिए
तेरे पीने को क्या कहिए
तेरे खाने को क्या कहिए
तेरे रोने को क्या कहिए
तेरे गाने को क्या कहिए

लेकिन, मैं गजल के बारे में ऐसी सोच भी नहीं रखता । गजल के एक शेर में कुछ उसी तरह से भाव और शैली की गंभीरता होती है, जो एक अच्छे दोहे में होती है । घटिया शेरों की गजल को गजल कहना ही बेकार है । तब तो मोची के काँटी ठोकने वाली बात ही होगी । किस काल में गजल ने कवियों को प्रभावित नहीं किया । स्वयं दिनकर जी ने 'स्मरण और श्रद्धांजलियाँ' में लिखा है कि निराला जी जोश अलीहाबादी से अपनी कविताओं में उर्दू रवानगी लाने के लिए मिलते थे । मुझे लगता है, निराला की गजलें गजल के प्रति मोह के कारण ही हैं । आज हिन्दी

के नामी नवगीतकार जिनमें डॉ. श्यामसुन्दर घोष, डॉ. मधुसूदन साह, भी शामिल हैं, गजल कहने की दिशा में बढ़ गये हैं । अब तो जो कविता में जनमते हैं, मुँह में गजल के शेर लिए ही जनमते हैं, यह समझे बगैर कि गजल का शेर कहना जंगल के शेर को पालतू बनाने की तरह कठिन कला है ।

डॉ. हरगानवी : अमरेन्द्र जी, आपने तो अंगिका भाषा में भी गजलें कही हैं ।

डॉ. अमरेन्द्र : एक दो गजलें नहीं कही हैं । अंगिका में गजल तो ८२ के उत्तरार्द्ध में ही कहना शुरू कर दिया था । जब सन् १९८४ में मेरी हिन्दी गजलों का संग्रह 'पीर का पर्वत पुकारे' प्रकाशित हुआ, तो इसमें मैंने अपनी दो अंगिका गजलें भी रखी थीं । बाद में सन् १९९९ में मेरी अंगिका गजलों का संग्रह 'रेत रोॅ राग' प्रकाशित हुआ । संग्रह में कुल ४९ गजलें हैं ।

डॉ. हरगानवी : अमरेन्द्र जी, आप से कुछ और पूछूँ, इसके पहले यह जानना चाहूँगा कि आप अपनी किताबों का शीर्षक आनुप्रासिक रखते हैं । जैसे 'पीर का पर्वत पुकारे', देहरी पर दीया, पाकड़ पर प्रेत, रेत रोॅ राग, काव्य और कसौटी, तुक्तक-मुक्तक, द्वार पर दस्तक, बुतरु के तुतरु, ढोल बजै छै ढम्मक ढम । इसके पीछे क्या राज है ?

डॉ. अमरेन्द्र : मनाजिर साहब, संगीत किसे नहीं प्रिय हैं ? अगर आनुप्रासिक शीर्षक है, तो लोगों का आकर्षण सहज ही संग्रह की ओर होगा लेकिन मैं आप को बता दूँ, यह मैं सोच कर नहीं रखता । ये शीर्षक आप ही आप उतरे हुए हैं । अगर कुछ शीर्षक आनुप्रासिक नहीं भी हैं, तो भी उनमें औन्सुक्य और नव्यता का आकर्षण जरूर मिलेगा । किताब में क्या रहे, इससे कम ख्याल इसका नहीं रखता हूँ, कि किताब का शीर्षक कैसा बना है। आप को बताऊँ अंगप्रदेश के इतिहास पर मेरा एक धारावाहिक नाटक डॉ. किशोर सिन्हा के निर्देशन में भागलपुर आकाशवाणी से प्रसारित हुआ था, जिसका शीर्षक था 'अंगदेश का अमृत मंथन'। जब इस धारावाहिक को पुस्तक रूप देने की बात उठी, तो उपरोक्त शीर्षक काव्यात्मक नहीं लग रहा था, कि तभी हठात एक शीर्षक किसी सोनमछली की तरह उछल आया, 'अमृतदेश : अंगप्रदेश' । आप को क्या

बताऊँ, मैं कई दिनों तक इस शीर्षक को बाँसुरी की तरह बजाता रहा था।

डॉ. हरगानवी : फिर पसन्द की बात । आप की कुछ और पसंदीदा कहानियाँ ?

डॉ. अमरेन्द्र : मैं तो मुख्य रूप से कविता का पाठक हूँ, कहानियाँ बहुत नहीं पढ़ी हैं । लेकिन जो कहानियाँ मुझे बेहद छू गयीं, उनमें डॉ. मृदुला शुक्ला की 'कहानी एक बुरी औरत' की, अनिरुद्ध प्रसाद विमल की 'गीतिया', रंगन की 'तो सलाम मेरे दोस्त', शिव कुमार शिव की 'चलावा', सदाशिव सुगन्ध की 'ज्ञान सिंह', उषा प्रियंवदा की 'वापसी', अमरकांत की 'जिन्दगी और जोंक', कमलेश्वर की 'राजा 'निरवंशिया', भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत', कृष्णा सेवती की 'सिक्का बदल गया', महीप सिंह की 'सन्नाटा', आभा पूर्वे की 'खोई हुई लड़की का खत', चन्द्रकिशोर जायसवाल की 'कागा नकबेसर ले भागा', पी. एन. जायसवाल की 'नदी चुप थी', डॉ. किशोर सिन्हा की 'जुबेदा अम्मा', मोहन राकेश की 'मलवे का मालिक', रेणु की 'पंचलैट', 'ठुमरी' 'तीसरी कसम' 'आदिम रात्रि की महक' पूनम सिंह की कहानी 'भँवर', धर्मवीर, भारती की 'बन्द गली का आखिरी मकान', मन्नु भंडारी की 'यही सच है', 'नई नौकरी', ज्ञानरंजन की 'कलह', माहेश्वर की कहानी 'मृत्युदण्ड', मृदुला गर्ग की 'उधार की हवा', दीप्ति खंडेलवाल की 'धूप के एहसास', श्रीकेशव का कहानी 'सबसे बड़ा झूठ' ऐसी ही कुछ कहानियाँ हैं, जिसकी गूंज मेरे दिमाग में उम्र भर बनी रहेगी । लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि रामधारी सिंह दिवाकर, राजी सेठ, राजकमल चौधरी, श्याम सुन्दर घोष, मृणाल पाण्डेय, शानी, मेहरूनिशा परवेज, उदय प्रकाश, असगर वजाहत मिथिलेश की कहानियाँ मेरे दिमाग में नहीं हैं । उदय प्रकाश के कहानी संग्रह 'दरियाई घोड़ा' की कहानियों को मैं भूल नहीं सकता । इन कथाकारों की किसी एक कहानी को चुनना मेरे लिए मुश्किल है, बल्कि मैंने जिन कथाकारों की एक दो कहानियाँ के बारे में बताया, उनकी कई-कई कहानियाँ हैं, जो मुझे श्रेष्ठ लगी हैं । अभी हाल में ही मेरे पास कहानियों के दो संग्रह आए हुए हैं, ये हैं सुधा ओम ढींगरा का 'दस प्रतिनिधि कहानियाँ' और डॉ. निरुपमा गय का कहानी संग्रह

'चाक पर मिट्टी' । मैंने इन कहानी संग्रहों की कई कहानियों को पढ़ा है । मुझे लगता है, समकालीन हिन्दी कहानियों के रूप-स्वरूप को समझने के लिए इन संग्रहों को देखना-समझना जरूरी है ।

डॉ. हरगानवी : इनमें आपने अपनी किसी कहानी का नाम नहीं लिया ?

डॉ. अमरेन्द्र : क्या मैं भी कोई कहानीकार हूँ (हँसते हैं)

डॉ. हरगानवी : क्यों नहीं है । आप की बहुचर्चित कहानी 'माँ', जो जनसत्ता (हिन्दी दैनिक के रविवार अंक) में छपने के अतिरिक्त कई जगहों में प्रकाशित हुई, उसकी तारीफ तो हिन्दी के प्रख्यात कथाकार अमरकांत ने भी की है ।

डॉ. अमरेन्द्र : मेरी कहानियों का संग्रह कभी निकल पाया, तो अपनी कहानियों पर भी बात करूँगा, अभी कुछ भी नहीं कहूँगा ।

डॉ. हरगानवी : साहित्य के बारे में आप का क्या दृष्टिकोण है ?

डॉ. अमरेन्द्र : साहित्य संसार में बदलाव ला सकता है, मूल्यों की स्थापना कर सकता है, और समय पर क्रांति की पृष्ठभूमि भी तैयार कर सकता है। जो यह कहते हैं कि साहित्य जो न रोटी दे सकता है, न लंगोटी वह साहित्य को समझ नहीं पा रहे हैं। रोटी-लंगोटी के लिए दुकान खोलने की जरूरत है, साहित्य लिखने की क्या जरूरत है। विदेशों में साहित्य सम्पत्ति कमाने का माध्यम हो सकता है, भारत में यह आय का माध्यम कभी नहीं रहा, आज भी नहीं है, इसलिए अच्छे-से-अच्छे साहित्यकार को महल नहीं है, जिनको विरासत में जमीन्दारी मिली हो, मैं उनकी बात नहीं कर रहा हूँ। साहित्य ही है जो समाज में मूल्यों की स्थापना के लिए बेचैन रहता है, और जिस साहित्य में यह है, उसकी कभी मृत्यु नहीं होती। बाकी तो आते-जाते रहते हैं ।

डॉ. हरगानवी : तो क्या, वह हर साहित्य जो मूल्यों से जुड़ा हुआ है, श्रेष्ठ है, और साहित्य की श्रेष्ठता के लिए और किसी कसौटी की जरूरत नहीं ? मेरा मतलब उसके अभिव्यक्ति पक्ष से है ।

डॉ. अमरेन्द्र : बिलकुल है; किसी भी साहित्य का विचार कितना प्रभावी है, वह इस पर निर्भर करता है कि वह कितनी कलात्मकता के साथ अभिव्यक्त हुआ है । लेकिन इसका मतलब यह नहीं होता कि आप

की भाषा की संप्रेषणीयता ही समाप्त हो जाय । मनाज़िर साहब, यह अचानक गद्य की लोकप्रियता का कारण क्या है, क्योंकि क्लिष्टता तो कोई कला नहीं। भागलपुर में एक कवि हुआ करते थे, पं. रामसेवक चतुर्वेदी, उनकी काव्यकृति है 'मानस मूर्छना' । वह ऐसी भाषा और क्लिष्टता का काव्य है कि वह अपने में ही सिमट कर रह गई । लेकिन उसी युग के पं. दामोदर शास्त्री और उमा बर्मा के काव्य को हिन्दी पाठकों ने खूब पढ़ा, क्योंकि शास्त्री और बर्मा जी के काव्य में संप्रेषणीयता का संकट नहीं है । इसी युग में रामेश्वर झा द्विजेन्द्र, गौरी शंकर मिश्र द्विजेन्द्र, उपेन्द्र चौधरी, बुद्धिनाथ झा कैरव हुए, पढ़िए इनकी कविताओं को, क्या कला और भावों की उदात्तता है इनमें । यही बात हम डॉ. श्यामसुन्दर घोष, डॉ. मधुसूदन साहा, मधुर कमल की कविताओं में भी पाते हैं । मुझे आज तक कोई पाठक ऐसा नहीं मिला कि कोई यह कहे कि डॉ. शान्ति सुमन की कविताएँ समझ में नहीं आती हैं, या नेपाली के गीतों को मैं समझ नहीं सका । आप से कहूँ, जब तक मैं एम. ए. में प्रसाद की 'कामायनी' पढ़ता रहा, मुझे वह काव्य कठिन लगा था । यह कठिन तब और लगने लगा, जब इससे संबंधित आलोचकों की समीक्षाएँ पढ़ीं । मुझे लगता है, कि आलोचक कभी-कभी रास्ता को साफ करने के बजाय उसे और भी कंटकाकीर्ण बना देते हैं । अच्छा है कि ऊपर के कवियों को कभी बुद्धिवादी आलोचक नहीं मिले । इनको साहित्य के पाठक मिले । और साहित्य के जो पाठक होते हैं, वह किसी भी आलोचक से बड़े हैं, वे साहित्य को सही-सही समझते हैं, आनन्द लेते हैं, वे आलोचक की तरह पागुर नहीं करते ।

डॉ. हरगानवी : लगता है, आलोचक के प्रति आप की धारणा कुछ अच्छी नहीं है ।

डॉ. अमरेन्द्र : ऐसा बिलकुल नहीं है । कई ऐसे आलोचक हैं, जिन्हें मैं बेहद पसन्द करता हूँ । रामचंद्र शुक्ल, रामविलाश शर्मा, सुरेन्द्र चौधरी, शिवदान सिंह चौहान, नामवर सिंह, धनंजय बर्मा, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, रमेश कुन्दल मंघ, रामदरश मिश्र, सिद्धनाथ कुमार, डॉ. कुमार विमल जैसे आलोचकों के महत्व को कोई कैसे इनकार कर सकता है ।

डॉ. हरगानवी : आपने अंगिका साहित्य और अपने मित्रों के लिए जितना काम किया, उस अनुपात में आपको जो सम्मान मिलना चाहिए था, वह नहीं मिला । इसकी जगह उपेक्षाएँ और बदनामियाँ ही कुछ ज्यादा मिलीं ! इससे आप को साहित्य और मित्रों के प्रति कभी दूरी का अहसास हुआ ?

डॉ. अमरेन्द्र : साहित्य में यह सब चलता ही रहता है । इतिहास को उल्टा कर देख लीजिए । और यह नीचा दिखाने का प्रयास साहित्य के यात्री को हिला सका हो, ऐसा भी कभी नहीं हुआ । अज्ञेय के ही विरुद्ध कितने साहित्यकार थे, पर अज्ञेय रुके कहाँ । छायावाद के कवियों में ही क्या अन्तरर्विरोध नहीं रहा, खैर पंत, निराला, प्रसाद, अज्ञेय, ये सब तो साहित्य के बरगद थे । और फिर वह यात्रा ही क्या, जिसमें कुछ रुकावट न हों, दुश्वांरियाँ ही ना आए, कुछ चोटें ना आए । इनसे मन दुखित तो होता ही है । लेकिन उपेक्षाओं, षडयंत्र, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से मुझे अपमानित करने के लिए पत्र-व्यवहार और गोष्ठियाँ से मैं कभी डरा नहीं । डरते तो कायर हैं, जो छुपकर शिकायतें करते हैं । मेरी कोशिश तो यही रही कि अपने नेपथ्य के उन मित्रों को भी मित्र बनाए रखूँ, और यह मैंने किया है । सफलता भी पाई है, नहीं तो मैं पूरी तरह से अकेला होता । लेकिन ऐसा भी नहीं कि मैंने अपना दुख व्यक्त नहीं किया है । जब-जब भी मैंने साहित्य के पथ पर मिले, सहयात्रियों के व्यवहार से मन टूटा, मैंने उस पीड़ा को कविता के छन्दों में उतार दिया। अंगिका में मेरी एक गजल है, कहिए, तो उसे सुनाऊँ ?

डॉ. हरगानवी : अवश्य । मैंने वह गजल पढ़ी भी है, आप के गजल संग्रह 'रेत रों राग' में वह संकलित भी है, फिर भी आप सुनाइए।

(भंगिमाओं के साथ गजल पढ़ते हैं।)

डॉ. अमरेन्द्र : सुनिए,

ओ, आ पाठ पढ़ाबों नै अमरेन्दर कें
जरबा जरी, जराबों नै अमरेन्दर कें
कहिया पड़लै अमरेन्दर दल-वादों में
टिन में ठूसी अटाबों नै अमरेन्दर कें
देखथैं रचनाकार सभी सें हड़कै छै

ये लें कहौं बुलाबों नै अमरेन्दर कें
अमरेन्दर जे फूल बिछाबों तोरा लें
है रं पीन गड़ाबों नै अमरेन्दर कें
अमरेन्दर की कों, खों, गों, घों वर्ण छिकै
रब्बड़ लै कें मिटाबौ नै अमरेन्दर कें
ऐलों छौं इतिहास गढ़ै लें अमरेन्दर
थाथी रखों, बोहाबों नै अमरेन्दर कें
कहतें-कहतें गजल अभीये सुतलों छै
गढ़िया नीन, जगाबों नै अमरेन्दर कें ।

डॉ. हरगानवी : बहुत खूब । कवि राम शर्मा अनल का एक संस्मरण है, जिसमें आप के प्रति साहित्यकारों की उपेक्षा का जिक्र है । क्या मैं समझूं कि 'द्वार के पार' में संकलित आप के ये शेर,

मैंने समझा यारी थी
अब समझा गद्दारी थी ।
वह शख्स दिख गया है फिर से आया गाँवों में
बड़ा ही खौफ है छाया हुआ हवाओं में ।

कहीं-न-कहीं उन्ही सब संदर्भों से संबंध रखते हैं ?

डॉ. अमरेन्द्र : हो भी सकता है । फिर कहूँगा, दर्द एक जगह हो तो कहें, दर्द इधर होता है । लेकिन जब-जब पुराने घाव की पीड़ा, पुरबा हवा के बहने से, उभर आती है, कुछ आह के छन्द भी निकल ही आते हैं ।

डॉ. हरगानवी : आह के ये छन्द आप के ताजा प्रबन्ध काव्य 'आलाप संलाप' में भी हैं, जिस काव्य के बारे में कथाकार शिव कुमार शिव ने अंधेरे में राम की शक्तिपूजा, की कविता कहा है। सचमुच में यह प्रबन्ध मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' की तरह मुझे रहस्यपूर्ण भी लगी है, और निराला की लम्बी कविता की तरह निराशा में प्रकाश पुंज की तरह भी । हिन्दी में इस तरह के आत्मकथात्मक प्रबन्ध काव्य के बारे में मैंने नहीं सुना है, वैसे आलोचक कहते हैं कि निराला की 'राम की शक्तिपूजा' भी निराला के जीवन की ही कविता है । लेकिन 'आलाप संलाप' तो आप के जीवन की ही कथा है । इसे लिख कर आपको कैसा

अनुभव हुआ ?

डॉ. अमरेन्द्र : 'आलाप संलाप' की समाप्ति के बाद मैं जैसे हल्का हो गया हूँ । ऐसा लगता है, जैसे अभी कुछ कहने के लिए मेरे पास नहीं है, और इसके बाद अभी तक मैंने कुछ लिखा भी नहीं है।

डॉ. हरगानवी : अमरेन्द्र जी, क्या आपने कभी इस विषय पर भी सोचा है कि आज साहित्य का समाज में वैसा कुछ मूल्य नहीं रह गया, जो कुछ वर्षों पूर्व था ?

डॉ. अमरेन्द्र : यह बात एक हद तक तो सही है, लेकिन पूरी तरह सच नहीं । साहित्य, जो मूल्यों का रक्षक है, उसका मूल्य समाज में कभी समाप्त नहीं होगा । हाँ, अभी लोगों में धन, संचय की प्रकृति कुछ तेज हो गई है, तो लगता है, साहित्य नेपथ्य में आ खड़ा हुआ है । सच पूछिए, तो साहित्य को समाप्त करने में पूंजीवादी व्यवस्थाओं का भी कम योगदान नहीं । आज बड़ी-बड़ी पत्रिकाएँ, जो देश भर में जाती थीं, अचानक बाजार से एक-एक कर गायब होती गयीं, और छोटी पत्रिकाएँ पाठकों तक पहुँच नहीं पाती हैं। इसीलिए साहित्य पर चर्चाएँ बन्द हो गयी हैं । बाजार में जो उपन्यास हैं, कविताएँ हैं, उनमें कौन-सी चीजें अच्छी हैं, आप निर्णय नहीं ले सकते । जो पत्रिकाएँ-समाचार पत्र हैं, उन पर प्रकाशकों की पकड़ है । वे मनमाने ढंग से समीक्षकों को प्रसन्न कर किताबों की प्रशंसाएँ करवाते हैं, और आखिर में पाठकों के विश्वास को चोट पहुँचती है । पहले पाठकों के बीच कृतियों पर संवाद होते थे, जिस तरह कि लेखकों के बीच मूल्यवान साहित्य के ऊपर । अब ये संस्थाएँ टूट गयीं, तो पाठक प्रकाशकों से छले जा रहे हैं, और ऐसे में बाजार वैसे साहित्य से भरा जा रहा है, जो प्रकाशकों को पैसा तो दे सकता है, सही समाज की स्थापना नहीं कर सकता । लेकिन यह बात सभी साहित्य या साहित्यकार के लिए नहीं कही जा सकती । और जिस दिन ऐसा होगा, उस दिन साहित्य की मृत्यु हो जायेगी । वैसे ऐसा दिन कभी नहीं आ सकता । उतार-चढ़ाव तो आते ही रहते हैं । समाज में साहित्य की प्रतिष्ठा बढ़े, इसके लिए साहित्यकार को आज पाठक की रुचियों को पकड़ना होगा आलोचकों को रूचि को संतुष्ट साहित्य समाज में पाँव नहीं जमा सकता ।

डॉ. हरगानवी : आप लघुकथा को किस तरह परिभाषित करना चाहेंगे ?

डॉ. अमरेन्द्र : मैंने लघुकथा और अणुकथा को लेकर बहुत पहले एक छोटा-सा लेख लिखा था, जब हिन्दी में लघुकथा पर बड़ी बहसें चल रही थीं, उसे यहाँ दुहराना नहीं चाहता । वैसे इस बात पर अब भी कायम हूँ कि लघुकथा और अणुकथा में अन्तर है और जो व्यंग्य के सहारे जो लघुकथाएँ लिखी जा रही हैं, वे वास्तव में अणुकथा नहीं ।

डॉ. हरगानवी : मैं फिर उपन्यास से ही जुड़े सवालों को आपके सामने रखता हूँ, मिथ को सामने रख कर आपने खुद उपन्यास लिखा है, और दूसरों से लिखवाया भी है । ऐसा क्यों ?

डॉ. अमरेन्द्र : सबसे पहले मैं यह स्पष्ट कर दूँ कि मैंने जो उपन्यास लिखा है, जिसकी ओर आप का ईशारा है, वह मिथ पर आधारित नहीं है। वह मध्यकालीन अंगप्रदेश के इतिहास की एक कथा पर आधारित है, जो इतिहास कथागीत के रूप में प्राप्त है, और जहाँ तक कथा गीतों पर उपन्यास लिखवाने की बात है, वह कार्य मित्र रंजन का रहे हैं । हाँ, मैंने डॉ. मृदुला शुक्ला को इस योजना के बारे में बताया था, और आग्रह किया था कि वह भी ऐसा कर सकती हैं । मृदुला जी स्वयं सिद्ध कथालेखिका हैं, उन्हें आग्रह पसन्द आया, और उन्होंने हिरनी-बिरनी उपन्यास लिखा भी। क्या जबर्दस्त उपन्यास है । जनजातीय जीवन, उसकी संस्कृति, स्त्रियों का पुरुषार्थ, प्रेम की दिव्य छवि, चरित्र-विकास से लेकर कथाशिल्प तक, सब कुछ अद्‌भुत बन पड़ा है । नट के जीवन पर लिखा गया सुगठित उपन्यास रागेय राघव के उपन्यास 'कब तक पुकारूँ' के बाद दूसरा सशक्त उपन्यास है, जिसकी ओर हिन्दी के कथालोचकों का ध्यान ही नहीं गया है । जहाँ तक ऐसे उपन्यासों की जरूरत की बात है, तो मुझे लगता है कि इससे हिन्दी उपन्यासों के प्रति पाठकों की रुचि फिर से जागृत होगी। आज हिन्दी उपन्यासों में शिल्प और विचारों को लेकर जो जटिलताएँ आ गयी हैं, उस जटिलता, दुरुहता को ऐसे उपन्यास तोड़ने में सक्षम हैं । मैं अंजनी कुमार शर्मा द्वारा रचित 'बाबा विसुरॉत' उपन्यास की ही बात करता हूँ, जो अंगिका लोकगाथा पर आधारित हिन्दी का उपन्यास है, वह भले शिल्प और शैली की दृष्टि से प्रश्नों के

घेरे में आए, लेकिन जहाँ तक बाजार में बिकने का प्रश्न है, यह उपन्यास पीछे नहीं रहा । आप इसे इस तरह समझिए कि जो लोकगाथाएँ सदियों से समाज को आन्दोलित करती रही हैं, जिनमें सम्पूर्ण लोकजीवन स्पंदित है, वही जब उपन्यास की शक्ल में सामने आयेंगी, तो स्वाभाविक है कि उपन्यासों के प्रति पाठकों की रुचि जागृत होगी, और इस तरह लोकगाथाओं को भी विलुप्त होने से बचाया जा सकेगा। मैं समझता हूँ, अंगिका की लोकगाथाओं को हिन्दी उपन्यासों में ढालकर रंजन, शिव कुमार शिव, डॉ. मीरा झा, अनिरुद्ध प्रसाद विमल, दिनेश तपन, डॉ. मृदुला शुक्ला, डॉ. विद्यारानी, डॉ. प्रतिभा राजहंस, धनंजय मिश्र चंद्रप्रकाश जगप्रिय ने बहुत बड़ा काम किया है, जिसका मूल्यांकन होना अभी बाकी है ।

डॉ. हरगानवी : आप अपने उपन्यास में ऐतिहासिक शैली का प्रयोग किया है । क्यों ?

डॉ. अमरेन्द्र : मैं समझता हूँ, आप के इस प्रश्न का उत्तर पहले के उत्तर में ही समाहित है ।

डॉ. हरगानवी : आखिर उपन्यास के लिए क्या ऐसी चीज महत्वपूर्ण है, जो उपन्यास को श्रेष्ठ बनाती है ?

डॉ. अमरेन्द्र : एक शब्द मैं कहूँ, तो वह है, विश्वसनीयमता । यह विश्वसनीयमता कथानक में भी होनी चाहिए और पात्रों में भी, अगर यह नहीं है, तो उपन्यास शिल्प की दृष्टि से चाहे जितना वैभवपूर्ण हो, पाठक के मन पर स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ सकता । उपन्यास पढ़ते हुए यह नहीं लगे कि कथानक या पात्र में जो कुछ है, वह कृत्रिम है, बनावटी है । मैं यहाँ पर फिर रंजन के उपन्यास 'अगिनदोहा' की चर्चा करना चाहुँगा । इसमें दो पात्र हैं श्रीवास्तव और रेवतीरमण सक्सेना । मुझे याद है, इन पात्रों के संबंध में नगर ने एक कथालोचक ने कहा था, रंजन के पात्र बिना दारू के नहीं ले पाते । मनाजिर साहब, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता, पात्र शराबी है या परस्त्रीगामी । देखना यह है कि उपन्यासकार ने उसके जिस चरित्र को गढ़ा है, वह विश्वसनीय है कि नहीं, ऐसा लगता है कि नहीं यह तो बिलकुल सच है। अगर पाठक अभिभूत हो रहा है, तो लेखक सफल है । रंजन के श्रीवास्तव और सक्सेना के चित्रण की

सफलता को हमें समझना चाहिए, लेकिन यही बात हम इसी उपन्यास के पात्र रज्जू के संबंध में भी कह सकते । यह बड़ा निर्जीव-सा पात्र है । वैसे लेखक ने बता दिया है, कि रज्जू संकोची व्यक्ति है । लेकिन इस वक्तव्य से क्या होता है । मैंने आपसे कथानक की विश्वसनीयता की बात की है । विश्वसनीयता के साथ-साथ मैं उपन्यास की सफलता में उस मुख्य कथानक का हाथ भी प्रमुख मानता हूँ, जो अन्तरकथा-उपकथा से दामन बचाए चलता है। डॉ. मधुकर गंगाधर के उपन्यासों की सफलता का राज भी यही है । अभी मैं इनका एक उपन्यास 'भीगी हुई लड़की' पढ़ रहा हूँ। कथानक में कोई जटिलता नहीं है, यहाँ एक ऐसा कथानक है, जिसे स्मरण से दुहराया जा सकता है । जो लेखक कथानक के इस गठन की उपेक्षा करके चलता है, वह अपनी कृति का स्थायी प्रभाव भी नहीं छोड़ पाता । अभी-अभी सुधा ओम ढींगरा का एक उपन्यास आया है 'नक्काशीदार केबिनेट', यहाँ भी कथानक की यही विशिष्टता मौजूद है । हर सफल उपन्यासकार रचना प्रक्रिया के क्रम में इसका ख्याल रखता है । अन्तरकथाओं, उपकथाओं से मूल कथा का बोझिल कर देने से उपन्यास का कथासूत्र ही खो जाता है । डॉ. मृदुला शुक्ला के उपन्यास 'हिरनी बिरनी' में मूल कथा को अपनी पूरी उर्जस्विता और संवेग के साथ उपस्थित है, इसी से इस उपन्यास का प्रभाव भी वैसा ही पड़ता है । रंजन जी के साथ एक कमजोरी यह है कि वह वातावरण को उसकी स्वाभाविकता में नहीं जाने देते, वह वातावरण गढ़ते हैं । 'अगिनदेहा' इससे मुक्त नहीं है । विवरण का वर्णन इतना लम्बा होने लगता है, कि न केवल वह मूलकथा के प्रवाह को रोक देता है, बल्कि ऊब को जन्म भी देता है । दरअसल वातावरण या देशकाल का चित्रण कथानक में वास्तविकता के सृजन के लिए होता है, और जब लेखक उसीमें लीन हो जाएगा, तो संकट खड़ा होगा ही । सफल उपन्यासकार इस संकट के प्रति बहुत सावधान रहते हैं । हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि संतुलित अनुपात का योग ही सौन्दर्य है ।

डॉ. हरगानवी : रंजन जी के उपन्यास 'अगिनदेहा' पर यह आक्षेप भी लगाया गया है कि यह उपन्यास समाज को देता क्या है ?

डॉ. अमरेन्द्र : एक उपन्यास समाज को कुछ देने के लिए लिखा

भी जाता है क्या ? अगर उपन्यासकार अपने पात्रों को, वातावरण को पूरी जीवन्तता में उतारने में सफल है, तो लेखन की सफलता भी इसी में है। कथालोचकों का एक वर्ग है, जो हमेशा कथाओं में नैतिकता-अनैतिकता की खोज करते है । नैतिकता और समाज को देने की ही बात होगी, तो डॉ. मृदुला शुक्ला का उपन्यास 'हिरनी बिरनी' भी असफल सिद्ध हो जायेगा, जबकि यह उपन्यास हिन्दी की एक मूल्यवान कृति है ।

डॉ. हरगानवी : आप को उपन्यास रचने की प्रेरणा कहाँ से मिली ?

डॉ. अमरेन्द्र : मुझे नहीं लगता कि उपन्यास लेखन के लिए मुझे कहीं से प्रेरणा मिली । १९६७-६८ के बीच मैंने एक लघु उपन्यास भी लिखा था, जबकि मैंने कवि जीवन की यात्रा ही शुरु की थी । अब तो न उस उपन्यास की पांडुलिपि है, न ही उसका शीर्षक याद आ रहा है । जब अंगिका में 'जटायु' उपन्यास लिखा, तब भी उसके पीछे कोई प्रेरणा नहीं थी, हाँ, जमीन पर कब्जा करने की एक घटना मेरे सामने थी, उस घटना में कब वन-समस्या और जाति द्वन्द्व आदि समाहित हो गये, मुझे भी नहीं मालूम। कथा आगे बढ़ती गई और ये समस्याएँ प्रमुख होती चली गयीं । घटनाएँ जिघर जाना चाहती थीं, मैंने उन्हें जाने दिया । हाँ, कथा पर विराम के लिए मैंने एक अंत सृजित किया था और उसी से जटायु को अंत दे दिया । जब हिन्दी में 'शैलेष भगत' उपन्यास लिखा, तो उसके पीछे भी कोई खास प्रेरणा रही हो, ऐसा नहीं है । दशकों पूर्व शैलेष भगत पर रेडियो नाटक लिखा था, वह स्मरण में था, तो उस पर उपन्यास लिख दिया, लेकिन नाटक और उपन्यास के कथानक में बहुत अन्तर है, ऐसा मैं निस्सन्देह कहना चाहूँगा। हाँ, अंगिका में जब बाल उपन्यास 'बंटा' लिखा, तो उसके पीछे यह प्रेरणा थी कि अंगिका में बाल उपन्यास को प्रोत्साहन मिले । एक और बाल उपन्यास लिखने का मन है, लेकिन यह इच्छा दशकों से इच्छा तक ही सीमित है, इसे कोई रूप नहीं दे पाया हूँ। शायद दे भी नहीं पाऊँ, उम्र की थकान के कारण। वैसे 'दीना भदरी' उपन्यास को शायद पूरा कर दूँ, जो हिन्दी में है, और अंगिका में आधा अधूरा लिखा 'स्वाति दी' उपन्यास को भी, अगर मेरे अन्दर की बची-खुची आग ने मुझे ठंडा न होने दिया।

डॉ. हरगानवी : आप अपने उपन्यासों के बारे में कुछ और बताएँ ।

डॉ. अमरेन्द्र : अब यह काम आलोचकों के ऊपर छोड़ दीजिए। मैं यह जानना चाहता हूँ कि पाठक या आलोचक मेरे उपन्यासों को किस तरह देखते हैं । डॉ. श्यामसुन्दर घोष, डॉ. मधुकर गंगाधर, डॉ. मृदुला शुक्ला के अतिरिक्त जिया लाल आर्य जैसे विद्वानों ने मेरे उपन्यासों पर लिखा है, उससे मुझे लगता है कि उपन्यास लेखन से मुझे मुँह नहीं मोड़ना चाहिए ।

डॉ. हरगानवी : आपके बारे में कुछ लोग यह भी कानाफूसी करते मिलते हैं कि आपके साहित्य पर जो विद्यार्थी शोध करते हैं, उन्हें मदद करने में आप संकोच नहीं करते ।

डॉ. अमरेन्द्र : मैं लेखक ही नहीं हूँ, शिक्षक भी रहा हूँ, विद्यार्थी की शंकाओं, जिज्ञासाओं को समाधान देने में मुझे संकोच क्यों होगा । और मैं अपने साहित्य के बारे में जितना जानता हूँ, उसके बारे में कोई दूसरा व्यक्ति कैसे जान सकता है । मुझे तो लगता है कि मैं अपने साहित्य के बारे में भी लिखूँ, एक आलोचक की तरह । पहली बार यह कुछ अटपटा-सा लगेगा, लेकिन यह भी चल निकलेगा । मैं पूछता हूँ, आखिर ऐसा क्यों न हो, जब विश्वविद्यालय के आलोचकों को नये लेखकों से कुछ लेना-देना ही नहीं, कुछ पुराने साहित्यकारों की रचनाओं पर ही बात करने में उन्हें रस की प्राप्ति होती है, तो नये लेखकों को चाहिए कि वह अपने साहित्य पर लिखें। अभी तक तो मैंने शोधार्थियों की शंकाओं का समाधान किया है, यह भी हो सकता है कि कल अपने साहित्य के बारे में भी स्वयं लिखूँ । जब अंगिका भाषा में मेरा खण्डकाव्य 'शबरी' का प्रकाशन हुआ, तो आलोचक डॉ. बहादुर मिश्र ने मुझसे कहा कि इस खण्डकाव्य के साथ नरेश मेहता और मीरा झा की हिन्दी काव्यकृति 'शबरी' को मिलाकर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करूँगा । हालांकि डेढ़ साल के बाद भी अपनी व्यस्तता के कारण वह ऐसा नहीं कर पाए, तब मैंने जिज्ञासावश नरेश मेहता की 'शबरी' के प्रति मंगवाई, क्योंकि मैंने इसे पढ़ा ही नहीं था । पढ़ा, तो लगा मेरा काव्य नरेश मेहता के काव्य 'शबरी' से कई मायने में श्रेष्ठ है, अन्तर सिर्फ यही है कि नरेश मेहता हिन्दी के

प्रख्यात कवि हैं, और मैं नहीं । लेकिन 'शबरी', की बात होगी, तो मेरी कृति में शबरी शूद्रा नहीं, मेरी शबरी आधुनिक समय में ठोस व्यक्तित्व की स्त्री है, जो समाज की पुरुषवादी व्यवस्था में स्त्रियों की स्थिति को समझती है, यही कारण है कि वह राम की प्रशंसा करती है, तो उसके सामने प्रश्न भी खड़ा कर पाती है । मेरे काव्य में शबरी की इच्छा मृत्यु के पीछे भी ठोस बड़ा कारण है । नरेश मेहता के काव्य में आप को यह अन्तर्द्वन्द्व नहीं मिलेगा, वहाँ तो शबरी वही शुद्रा है, और फिर शबरी से ज्यादा ऋषि मतंग के व्यक्तित्व और आश्रम का गुणगान ही कविवर मेहता ने किया है । मेरे काव्य का नाम शबरी है, तो शबरी काव्य के आरम्भ से लेकर अन्त तक वर्त्तमान है । अब कोई इस बात को नहीं समझ पा रहा है, और मैं उसे बता देता हूँ, तो इसमें गलत क्या है, आप ही कहिए, मनाजिर साहब।

डॉ. हरगानवी : हिन्दी साहित्य को सूचना माध्यमों से क्या लाभ पहुँच रहा है ? दुष्प्रभावों के भी बारे में बताएँ ?

डॉ. अमरेन्द्र : शायद ही कोई इससे इन्कार करेगा कि एक समय में हिन्दी के प्रचार-प्रसार में हिन्दी फिल्मों का भारी योगदान रहा है । उत्तर से लेकर दक्षिण और पूर्व से लेकर पश्चिम तक हिन्दी के प्रति जो सहज खिंचाव पैदा हुआ था, उसमें हिन्दी फिल्मों के गीतों की भूमिकाएँ असंदिग्ध थीं । आज सिनेमा के अतिरिक्त ऐसे अनेक सूचना माध्यमों का विकास हुआ है, और इनके प्रभाव से हिन्दी के स्वरूप में भी भारी बदलाव देखा जा सकता है । आज हिन्दी वैसी हिन्दी नहीं रह गयी है, जो दो-तीन दशक पहले थी । अंग्रेजी का प्रभाव तो तब भी हिन्दी पर था, लेकिन इससे इनकार नहीं किया जा सकता है कि आज हिन्दी को बिगाड़ने में सूचना माध्यमों के हाथ लम्बे हो गये हैं, खास कर हिन्दी जो विज्ञापनों के माध्यम से आ रही है । लोग खुश है कि हिन्दी की लोकप्रियता बढ़ रही है, लेकिन वे यह नहीं समझते कि अपनी इस लोकप्रियता के लिए हिन्दी की कितनी भारी कीमत चुकानी पड़ रही है । कल हिन्दी को हम गुरुओं से सीखते थे, आज टी. वी. अखबारों, रेडियो से सीखते हैं, और इन माध्यमों से निकलने वाली हिन्दी में अधिकांशतः हिन्दी का जो रूप होता है, वह सराहनीय नहीं कहा जा सकता । यह बात सही है कि

सूचना माध्यमों की सहायता से आज हिन्दी पूरे देश की भाषा बन पाने में सक्षम हुई है, लेकिन अच्छा यह होता कि इसमें जिस तरह एक वाक्य में अंग्रेजी के तीन-चार शब्दों को घुसेड़ने की राजनीति चल रही है, उसे रोका जाता । अगर हिन्दी में तमिल, मलयालम, अंगिका, गुजराती, मराठी, बंगला के शब्द आएँ, तो ठीक; इससे हिन्दी को जल्दी राष्ट्रभाषा का सही दर्जा भी मिल जायेगा । टी. वी. रेडियो अखबारों के संवेदनशील पत्रकार यह काम कर भी रहे हैं । आज हिन्दी में अरबी-फारसी के हजारों शब्द हैं, और वे हिन्दी के बन कर रह गये हैं, ये बचे हुए शब्द हैं । अंग्रेजी के संज्ञा पद आते हैं, तो कोई बात नहीं, लेकिन इस भाषा के सर्वनाम, विशेषण, संयोजक शब्दों को हिन्दी में घुसेड़ना कितना उचित है ? और फिर हम उन संज्ञाओं को ही क्यों लें कि घर के बच्चे 'क्रो' को तो समझे, कौआ नहीं 'बट' तो समझे लेकिन 'लेकिन' नहीं। सूचना माध्यम अगर जन सामान्य की सतही भाषा को कौतुकवश या किसी अन्य कारण से पूरे समाज के बीच स्थापित करने का प्रयास करता है, तो यह दुर्भाग्यपूर्ण है, और हिन्दी को ऐसी लोकप्रियता से बचाने की जिम्मेदारी सभी पर आती है, सूचना माध्यमों पर भी । यह सूचना माध्यम का ही वरदान है कि आज 'कविता कोश' पर हम हिन्दी, उर्दू, राजस्थानी, अंगिका भोजपूरी जैसी भाषाओं के विशाल साहित्य को पढ़ सकते हैं । साहित्य के पाठकों के लिए स्वर्ग का दरवाजा है 'कविता कोश' गूगल पर जाइये और साहित्य देवता हाजिर ।

डॉ. हरगानवी : एक सवाल छूट रहा है । आप उपन्यास किस तरह लिखते हैं ?

डॉ. अमरेन्द्र : मुझे याद है, कथाकार रंजन ने किसी मित्र के लिए एक उपन्यास का प्रारूप तैयार किया था, बहुत बढ़िया प्रारूप । वह प्रारूप कुछ ऐसा था कि उपन्यास तैयार होता, तो उस पर फिल्म भी बहुत बढ़िया बनती । लेकिन मैं अपने उपन्यास के लिए ऐसा कोई प्रारूप नहीं बना पाता। दिमाग में एक कहानी जरूर बनी रहती है, जो कहानी आदि, मध्य और अन्त की होती है । बीच में जो अन्य घटनाएँ आती हैं, पात्र आते हैं, उनके बारे में कभी सोचा भी नहीं गया होता है । जरूरत के हिसाब से ये आते हैं, और उपन्यास में जुड़ते चले जाते हैं । जैसा कि

मैंने पहले भी कहा है कि 'जटायु' उपन्यास के अन्त के बारे में मैंने पहले तो सोचा भी नहीं था । कुछ धुंधली- सी कथा मेरे सामने थी, और में उपन्यास लिखने बैठ गया था । लेकिन एक जुनून था, जो मुझे लिखने के लिए विवश कर रहा था और उसी जुनून ने 'जटायु' के मध्य और अंत को भी खोज लिया था। मैं आप से कहूँ, जब 'शैलेश भगत' लिखने बैठा, तब भी यही जुनून काम कर रहा था । यहाँ मेरे सामने कथा का एक रूप मेरे मस्तिष्क में अवश्य तैयार था, जिससे उपन्यास को पूरा करने में कोई परेशानी नहीं हुई । अभी मैं जिन दो उपन्यासों पर काम करने को सोच रहा हूँ, उनके लिए भी मैंने कोई प्रारूप नहीं बनाया है । कथा के कुछ-कुछ बिन्दु हैं, जिन्हें दिमाग में बनाए रखता हूँ । ये बिन्दु ही मुझे नियंत्रित करते हैं और मैं इधर-उधर विशेष भटकने से बच जाता हूँ । 'जटायु' लिखने के समय मेरे दिमाग में कथा का यह रूप भी नहीं था। फिर भी डॉ. मृदुला शुक्ला ने जब इस उपन्यास की असफलता के साथ इसकी सफलताओं पर विशेष रूप से लिखा, तो मुझे लगा कि मैं उपन्यास लिख सकता हूँ । मैं बिलकुल सही कहता हूँ कि उपन्यास लिखने से पूर्व मैं यह भी तय नहीं कर पाता कि मुझे इसे चरित्र प्रधान बनाना है, या दृश्य-प्रधान या कि घटना प्रधान। मुझे लिखने से मतलब होता है, क्योंकि मुझे मालूम है कि कोई भी लेखक अपने उपन्यास को न देशकाल से अप्रभावित रख सकता है, न पात्रों को चरित्र से अधूरा । उपन्यास है, तो घटनाएँ तो होंगी ही । मैं बिना किसी बात की चिन्ता किए हुए लेखन करता रहता हूँ । आप सोचते होंगे कि उपन्यास लेखन के लिए मैंने किसी को अपना गुरु बनाया होगा, सैद्धान्तिक पुस्तकों का अध्ययन किया है, ऐसा कुछ भी नहीं है । कुछ उपन्यास अवश्य पढ़े हैं । कुछ ऐसे उपन्यास भी पढ़े हैं, जिनके नाम पर कुलीन साहित्यकार नाक-भौं सिकोड़ेंगे । और इन उपन्यासों को पढ़ने के बाद जो एक बात मैंने सीखी है, वह यह कि कथा में औत्सुक्य और वास्तविकता के तत्व किसी भी हाल में मरने नहीं पाए । इन्हें बचाए रखना है । ये बच जायेंगे, तो पाठक भी लाखों मिल जायेंगे ।

डॉ. हरगानवी : अभी आपने जुनून की बात की, तो मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपके उपन्यास 'दीना भदरी' और 'स्वाति दी' कब

तक सामने आ रहे हैं ?

डॉ. अमरेन्द्र : यह कहना मुश्किल है । अब वह जुनून मैं अपने में महसूस नहीं करता । एक समय था, जब सिर्फ लिखने से मतलब था। कौन मेरी रचना के बारे क्या कह रहा है, इससे मुझे कुछ भी मतलब नहीं था, और इसी कारण मैं इतनी विपुल मात्रा में साहित्य भी रच सका । लेकिन अब वही जुनून शेष हो रहा है । तीन साल पूर्व इन दोनों उपन्यासों को लिखना शुरू किया था, लेकिन दोनों आधे अधूरे हैं, आधे अधूरे भी नहीं । आरम्भिक अवस्था में कहिए । इन्हें पूरा कर भी सकूँगा या नहीं, यह भी नहीं कह सकता । वैसे पूरा करने की इच्छा जरूर मन में है, तब भी, जब कि कविता भी मेरा साथ छोड़ रही है ।

डॉ. हरगानवी : इन दो उपन्यासों के अतिरिक्त और भी कुछ है, जिस पर आप काम कर रहे हैं ?

डॉ. अमरेन्द्र : हाँ, हिन्दी में आधा अधूरा लिखा गया एक महाकाव्य है, कर्ण के जीवन पर आधारित है । लगभग बीस वर्ष पूर्व शुरू किया था । पाँच-छः सर्ग पूरा होने के बाद यह भी रुका, तो रुका ही हुआ है । कई बार सोचा कि इसे पूरा कर दूँ, लेकिन कहा न कि कविता भी मेरा साथ छोड़ रही है । वैसे उपन्यास पूरा कर सकूँ या नहीं, इस 'कर्ण' महाकाव्य को अवश्य पूरा करूँगा, अगर जीवन ने साथ दिया ।

डॉ. हरगानवी : आखिर, ऐसा क्या कारण है कि दो दशकों के बाद भी आप इस 'कर्ण' महाकाव्य को पूरा नहीं कर पाए हैं ?

डॉ. अमरेन्द्र : एक तो यही कारण है कि इस बीच मैं अंगिका भाषा के विकास से कुछ ऐसा जुड़ा रहा कि इसकी ओर ध्यान ही नहीं गया । अब ध्यान गया है, तो इसके शिल्प, इसके कथानक के रूप को लेकर उलझ जाता हूँ । 'गेना' में यह समस्या नहीं थी, क्योंकि महाकाव्य के रूप-स्वरूप की मुझे चिन्ता नहीं थी, न इसके बारे में कुछ विशेष जानने की चिन्ता ही, अब कुछ अध्ययन कर लिया है, तो उलझ गया हूँ । मुझे लगता है कि लेखक के लिए ढेर पढ़ना शायद अपने लेखन के मार्ग को अवरुद्ध करना है, और तीसरा कारण जुनून का ठंडा पड़ जाना है । इनके अतिरिक्त कोई और कारण नहीं है । मैं हमेशा आर्थिक संकटों के बीच रहा, लेकिन यह मेरे लेखन के मार्ग को कभी अवरुद्ध नहीं कर सका, न

किसी पारिवारिक संकट के कारण रुका, पर अपने में अब लेखन का वह उन्माद नहीं पाता हूँ, जो कभी शासन-अनुशासन के बंधन की परवाह किए दौड़ता-फिरता था। इस जुनून को मैंने कभी कथाकार रंजन में भी देखा था, लोगों के बीच लिखते जाने का जोश । वह न होता, तो रंजन न 'कुँअर नटुआ दयाल' लिख पाते, न 'अगिनदेहा'।

डॉ. हरगानवी : कला साहित्य से अलग, आप यह बताएँ कि हिन्दी में नाटकों की क्या दशा है ?

डॉ. अमरेन्द्र : बहुत सन्तोषजनक तो नहीं ही कहा जा सकता है । जिस तरह से हिन्दी में उपन्यास आ रहे हैं, कहानियाँ आ रही हैं, यहाँ तक कि आलोचनाओं और यात्राओं की पुस्तकें आ रही हैं, नाटकों की कहाँ आती हैं । एक समय था, जब हिन्दी के लेखक कविता-कहानी के अतिरिक्त नाटकों के सृजन के प्रति उदार रहे । शायद इसलिए कि वह काल हिन्दी साहित्य को सभी कोणों से समृद्ध करने का था, बाद में भी कुछ अच्छे नाटक आए, उनमें मोहन राकेश, डॉ. मधुकर गंगाधर, भीष्म साहनी, सुरेन्द्र बर्मा, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, डॉ. श्याम सुन्दर घोष, लक्ष्मी नारायण लाल, मुद्राराक्षस, हमीदुल्ला, शरद जोशी, जगदीश चन्द्र माथुर, कमला प्रसाद बेखबर के नाम लिए बिना हिन्दी नाटक साहित्य पर बातें पूरी नहीं की जा सकतीं । इधर धनञ्जय मिश्र का एक लघु नाटक 'बदलता गाँव' और अनिरुद्ध प्रसाद विमल का 'मुखिया मंगनी लाल' पढ़ने को मिला, अगर इस तरह का प्रयास भी जारी रहता है, तो हिन्दी नाटकों की वर्त्तमान सोचनीय स्थिति में परिवर्त्तन लाया जा सकता है ।

डॉ. हरगानवी : क्या हिन्दी ड्रामा पतनोन्मुख दशा में है ?

डॉ. अमरेन्द्र : पतनोन्मुख दशा से आपका संकेत किस ओर है ? अगर आप यह कहना चाहते हैं कि हिन्दी में जो नाटक लिखे जा रहे हैं, उनमें महाभाव का वह गांभीर्य नहीं रह गया है, जो प्रसाद, प्रेमी, या रामकुमार बर्मा के नाटकों में प्राप्त होता है, तो मैं इससे इनकार करूँगा । इन नाटककारों का समय कुछ और था, और आज की परिस्थितियाँ कुछ और हैं, और ऐसी परिस्थितियों से मुकाबले के लिए जो नाटक लिखे जा सकते हैं, लिखे गये हैं । आप लक्ष्मी नारायण लाल, मोहन राकेश, जगदीश चन्द्र माथुर, हरि शंकर शेष, गोविन्दबल्लभ पंत, चन्द्रगुप्त

विद्यालंकार, मुद्राराक्षस, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, कृष्णदेव अग्निहोत्री, सुरेन्द्र बर्मा, कमला प्रसाद बेखबर, हम्मीदुल्ला, मधुकर गंगाधर, श्यामसुन्दर घोष, मन्नू भंडारी, भीष्म साहनी, के नाटकों को देख लें । समाज और आधुनिक मानव की स्थितियों को इन्होंने अपने नाटकों में जिस तरह उद्‌घाटित किया है, वे हिन्दी नाटकों को कितना श्रेष्ठ बनाते हैं । और पतनोन्मुख दशा से आप का इशारा अगर हिन्दी में नाटक सृजन के प्रति लेखकों में उदासीनता से है, तो यह गलत नहीं लगता । दरअसल नाटक का संबंध रंगमंच से ही होता है, और रंगमंच तो अपने यहाँ बड़े-बड़े प्रान्तों में हैं, दिल्ली, कलकत्ता, भोपाल, पटना में हिन्दी नाटकों को रंगमंच तो मिल जाते हैं, लेकिन छोटे शहरों में यह संभव नहीं हो पाता, इसी से साहित्य की अन्य विधाएँ जिस तरह कस्बे और गाँवों तक में मजबूती के साथ फलती-फूलती रहती हैं, वैसा नाटक नहीं । आप अपने भागलपुर शहर को ही लें । इतने बड़े शहर में एक बढ़िया-सा रंगमंच तक नहीं है, यद्यपि इसके लिए यहाँ के कलाकार आवाज उठाते ही रहे हैं। एक 'आलय' नामक संस्था है, जिसकी ओर से समय-समय पर नाटकों की प्रस्तुति होती है लेकिन जो नाटक मंचित होते हैं, उनमें कभी-कभी ही शहर के नाटककार का कोई नाटक जा जाए, तो गनीमत समझिए। ऐसी स्थिति में नाटक सृजन को बल नहीं मिल पाता । एक समय था, जब डॉ. राधा कृष्ण सहाय ने रंजन, रतना मुखर्जी, विनिता अग्रवाल, प्रताप मोहन ठाकुर के साथ इस शहर में रंगमंच के लिए एक भव्य वातावरण बनाया था, तब उस समय श्रेष्ठ नाटक भी लिखे गये ।

डॉ. हरगानवी : आपने बताया था कि आप का गाँव नदी के किनारे है, तब तो आप तैराकी विद्या में भी कुशल होंगे ?

डॉ. अमरेन्द्र : बिलकुल नहीं । नदी हो या महानदी, इसकी जलराशि से बहुत भय लगता है । बचपन में जब मैं अपने गाँव से सटकर बहनेवाली चानन नदी की बाढ़ को देखता था, तो भय नहीं खाता था । लेकिन यह भय शायद उस घटना के बाद जम-सा गया, जब मैं भागलपुर चला आया था। उस समय मेरी उम्र चौदह-पन्द्रह की रही होगी। छठ पर्व की संध्या पूजा की बेला थी । मैं भी बूढ़ानाथ की मरगांग के किनारे पहुँच गया था। धार के उस पार नाव से पहुँच गया था । फिर

क्या हुआ कि गंगा में स्नान करने का जी हो आया, तो कपड़े उतारे और जंघिया पहने पानी में पैरों को उतार दिया, लेकिन किनारे में इतना फिसलन था कि मेरे पाँव नीचे ससरने लगे और पानी छाती तक चढ़ आया। हड़बड़ाहट में मेरे हाथ उठे और मैंने किनारे की मजबूत घासों को जकड़ लिया, फिर अपने पाँवों को ऊपर कर दायें पैर की उंगुलियों को मिट्टी में धँसाने की कोशिश करने लगा, लेकिन बार-बार पाँव नीचे हो जाता था । अगर बचने के प्रयास में लम्बी घासें उखड़ गयी होतीं, तो मैं नहीं कह सकता हूँ, कि मेरा क्या हुआ होता । मेरे पाँव किसी तरह मिट्टी में जम गये थे, और मैं ऊपर आ गया था । तब से नदी में उतरने की बात ही मेरे दिमाग से निकल गयी है । इस घटना का मेरे मस्तिष्क पर दशकों असर रहा । स्वप्न में प्रायः ऐसे दृश्य आ जाते कि मैं तेज उफनती नदी में अचानक गिर पड़ा हूँ । पुल पार कर रहा हूँ, और पुल ही टूट गया है, मैं धार के नीचें तिनके-सा बहता जा रहा हूँ या फिर कुछ ऐसा कि मैं नदी के किनारे खड़ा हूँ । नीचे नदी बहुत उफना रही है, और अचानक ही रेत धँसने के साथ ही मैं बहती नदी के बीच चला आया हूँ । बहुत आक्रान्त किया है, ऐसे-ऐसे सपनों ने । उस घटना के बाद अब तो मुझसे कोई नाव या जहाज से भी नदी, महानदी पार करने कहे, तो मुझे खुशी नहीं होगी, डॉ. साहब । मैं आपको बताऊँ कि इस घटना से मैं कितना आतंकित रहा हूँ । चार-पाँच साल पूर्व मेरा बड़ा लड़का कुमार संभव, भादो की शाम में, गंगा स्नान करने चला गया था। जब मैंने यह जाना, तो रात भर कितनी-कितनी बातों को सोचकर परेशान होता रहा, जैसे उफनती हुई गंगा मेरे घर के द्वार तक आ गयी हो । उफनती नदी से मुझे भय लगता है । अगर मैं तैराकी जानता, तो भी भरी नदी या तालाब में उतरने की बात नहीं सोचता । बस मुझे घुटने भर पानी वाली नदी ही अच्छी लगती है । बचपन में, ऐसी ही चानन नदी में कभी हाथ-पाँव, तैरने की शैली में, फेंका करता था, बस ।

डॉ. हरगानवी : अमरेन्द्र जी, एक बात पूछूँ, आप को कैसे लोग पसन्द हैं?

डॉ. अमरेन्द्र : इसका उत्तर कुछ दूसरे तरीके से दूँगा । मुझे कई लोग पसन्द हैं, अपने-अपने गुणों के कारण; इनमें कथाकार शिव कुमार

शिव है जिसे मैंने गरीबी-अमीरी में एकरस देखा है, कभी मैंने उफनते हुए नहीं देखा। दोस्ती के नाम पर बहुत कुछ बर्दास्त कर जाता है यह शख्स, जो साहित्य के लिए जीता-मरता है, लेकिन अपने नाम का शिलालेख खुदवाने के लिए बेचैन कभी नहीं रहा । ऐसे ही मेरे एक मित्र हैं, रंजन। जन्म से हमदोनों दो दिनों के छोटे-बड़े, लेकिन विभिन्न क्षेत्रों के ज्ञान को लेकर मुझसे बड़े, और इस बात को लेकर कोई घमण्ड भी नहीं । जितना जाना-सुना है, उसके बाद भी नये विषय को जान लेने की अद्‌भुत जिज्ञासा । दोस्तों की प्रशंसा में जिनका दिल साधु-संतों के आश्रम के दरवाजे की तरह हमेशा खुला रहता है । लेखन में दानव की शक्ति रखते हैं, भीड़ को भी एकान्त बनाकर लिखते हैं । मैंने इस आदमी को कभी उग्र होते हुए भी नहीं देखा, जैसे कि ऋषितुल्य सुरेन्द्र कुमार जैन जी को। लेकिन मैं जिस व्यक्ति का नाम यहाँ विशेष रूप से लेना चाहूँगा, जो अपने व्यक्तित्व से मुझे बेहद प्रभावित करते रहे हैं, वह हैं, मनोज कुमार पाण्डेय, बैजानी के निवासी हैं, दिशा ग्रामीण मंच के सचिव । इस व्यक्ति में मैंने दूसरे व्यक्ति के प्रति जो सम्मान का भाव देखा है, किसी भी परिस्थिति में दूसरों को सहयोग करने का असीम उछाह देखा है, जिनमें, किसी भी विपरीत परिस्थिति में, सच का साथ निभाने की ताकत देखी है, अपनी हानि को झेल जाने की अविश्वसनीय प्रकृति देखी है, जिन्हें अंगिका में बहुत बढ़िया लिखने का शऊर हासिल है, पर कहीं से भी कोई गुरूर नहीं और जिन्हें मैंने कभी भी श्रेष्ठता भाव से ग्रसित नहीं देखा, चेहरे पर कभी उदासी भी नहीं देखी, कभी दिखी भी तो ऐसे कि दिखाई ही न दे । मनोज पाण्डेय के कर्म में, वचन में, मन में गाँधी का निवास है, शरीर से मन तक एक भव्य व्यक्तित्व को लेकर यह आदमी मुझे इसलिए प्रभावित करता है कि अपने किए के लिए इस व्यक्ति ने कभी कोई कीमत नहीं चाही, कर्ण की भूमि पर होने का संस्कार जिस आदमी को हमेशा पिछुआता है, अंग संस्कृति का जो प्रतीक पुरुष है । मनाज़िर साहब, इन तीनों लोगों के गुण मुझे जिस-जिस व्यक्ति में मिलते हैं, वे मुझे बेहद पसन्द हैं । इस क्रम में मैं एक कथालेखिका के भव्य और विराट व्यक्तित्व को कभी विस्मृत नहीं कर पाता, वह हैं—डॉ. सुजाता चौधरी । डॉ. सुजाता जी अंग प्रदेश की मदर टेरेसा ही हैं । इनके सेवाभाव और त्याग से मैं

ही नहीं, भागलपुर ही नहीं, पूरा अंग प्रदेश अभिभूत हैं ।

डॉ. हरगानवी : तो यह भी बता दीजिए कि कैसे लोग नापसन्द हैं ?

डॉ. अमरेन्द्र : जो अपने को महान माने हुए हैं, जो वर्ण-व्यवस्था के इसलिए समर्थक हैं कि उनका लाभ सूंघते रहे, जिन्हें दूसरों की प्रशंसा से चीढ़ है, जो किसी के इसलिए प्रशंसक हैं कि इससे उनका स्वार्थ सधता है, जो अपनी नकारात्मक सोच को लोगों पर लादना चाहते हैं, और जो आन्ततोगत्वा अपने और पूरे समाज के विरुद्ध साबित होते हैं ।

डॉ. हरगानवी : मैंने सुना है, आप का मन भागलपुर से ऊबता है, तो पुनसिया चले जाते हैं, क्यों ?

डॉ. अमरेन्द्र : कारण है, वहाँ अनिरुद्ध प्रसाद विमल हैं । हैं तो कई मित्र, जैसे धनंजय मिश्र, गंगा प्रसाद राव, खुशी लाल मंजर, सुरेन्द्र प्रसाद यादव, जयप्रकाश गुप्त, नवीन निकुंज और सभी-के-सभी साहित्यकार हैं, लेकिन विमल की बात कुछ और है । अगर तीन घण्टे भी वहाँ, उसके साथ रह लेता हूँ, तो हफ्ता भर मन भरा-भरा रहता है । एक विमल ही है, जो जब भी मेरे साथ होता है, सिर्फ साहित्य पर बात होती है । अंगिका में क्या लिखा जा रहा है, क्या लिखा जाना चाहिए । मैं क्या लिखना चाह रहा हूँ, वह किस पर लिखना चाह रहा है ? तीन घण्टे में तीन लोकों की बातें हो जाती हैं । आप सच मानिए, विमल जैसा कोई दूसरा मित्र नहीं, जो जब तक साथ रहता है, सिर्फ साहित्य पर बातें करता है । आज पुनसिया जैसा कस्बा अगर देश भर के हिन्दी प्रान्तों में जाना जा रहा है, तो अनिरुद्ध प्रसाद विमल के कारण। साहित्य के लिए इस तरह जीने मरनेवाला मेरा साथी शहर में कोई दूसरा नहीं; इसी से पुनसिया चला जाता हूँ । कभी पुनसिया में मित्र अश्विनी भी होता था, तो साहित्य की गद्दी ऐसी जमती थी कि मत पूछिए। न जाने किसकी नजर लग गयी कि आने-जाने की सड़क ही खाई में बदल गई है । महीनों बीत गये हैं, अनिरुद्ध के साथ डॉ. रामदरश मिश्र, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, जसवंत सिंह 'विरदी' जैसे साहित्यकारों से लेकर आनन्दशंकर माधवन और प्राण मोहन प्राण तक की साहित्य साधना पर बातचीत किए और एक साथ किसी-न-किसी बात पर जोर का ठहाका लगाए हुए ।

विमल से मिले बिना तो मैं बूढ़ा हो जाता हूँ । अड़सठ में ही अस्सी का हो जाता हूँ ।

डॉ. हरगानवी : ऐसे कोई और तो होंगे जिनके सम्पर्क में आप ऐसा अनुभव करते हैं ।

डॉ. अमरेन्द्र : हाँ, करते थे, लेकिन अब वह भागलपुर में नहीं है । कुछ महीने हुए, पटना आकाशवाणी में उपनिदेशक बन कर लौट गये। मेरा संकेत डॉ. किशोर सिन्हा की ओर है। वह जब तक यहाँ रहे, कार्यक्रम अधिशासी से लेकर उपनिदेशक बनने तक, साहित्य का सत्संग होता रहा । आकाशवाणी में मैंने डॉ. सिन्हा-सा कोई व्यक्ति नहीं देखा, कम-से-कम मेरे सम्पर्क में नहीं आया, जो सधा हुआ नाटककार भी हो, सिद्ध कवि भी हो, मंजा हुआ कथाकार हो, संगीत का साधक भी हो, जिसकी आवाज में सप्तम स्वर नाचता हो, मृदंग की गूंज हो, तो मेघ का मंद्र नाद भी, जिसने अपनी ऊँची कुर्सी को अपनी गर्दन से सदा नीचे ही रखा, जिसके लिए साहित्यकार धरती के देवता की तरह हो और जिसका हृदय आकाश की तरह खुला हो । डॉ. किशोर सिन्हा ऐसे ही हैं ।

डॉ. हरगानवी : इनके साथ का कोई संस्मरण ?

डॉ. अमरेन्द्र : कई हैं, लेकिन एक प्रसंग सुनाता हूँ । डॉ. सिन्हा अपने चैम्बर में अपनी कुर्सी पर थे, और मैं, डॉ. मीरा झा, अनिमा सिन्हा, साथ में एक युवती अलग-अलग सोफासेटों पर विराजमान थे । सिन्हा जी की ओर से जिलेबियाँ, समोसे मँगाये गये थे । नास्ता भी चल रहा था और बातें भी । तभी किसी प्रसंग पर तुर्की भाषा का बहुवचन वाला शब्द 'खवातीन' आ गया । मीरा झा की बगल में बैठी उस युवती ने पूछा, 'खवातीन, का क्या अर्थ होता है ? तो मैंने वक्रोक्ति में कहा, जब तीन ओरतें मिल कर खाए, तो उसे खवातीन कहते हैं । यह सुनना था कि डॉ. किशोर सिन्हा कुर्सी पर ही लोटपोट हो गये, यही हाल डॉ. मीरा झा और अनिमा सिन्हा का था । पूरा चैम्बर उन्मुक्त हँसी से गूँज गया था। वह उन्मुक्त हँसी भुला नहीं पाऊँगा ।

डॉ. हरगानवी : किस भाषा के किन-किन कवियों को आप पसन्द करते हैं ?

डॉ. अमरेन्द्र : हिन्दी और उर्दू के कवियों को ही मैंने अधिक पढ़ा

है । हिन्दी के सूर, कबीर, तुलसी को बहुत अधिक तो नहीं, लेकिन आधुनिक युग के कवि प्रसाद, निराला, महादेवी, दिनकर, रविन्द्रनाथ त्यागी, सर्वेश्वर दयाल सक्शेना, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, रामदरश मिश्र, धूमिल, धर्मवीर भारती डॉ. रामनिवास मानव, डॉ. श्यामसुन्दर घोष, डॉ. मधुसूदन साह, मधुर कमल, डॉ. शिवनारायण को कुछ अधिक । और ये समकालीन कवि मुझे पसंद भी हैं । पढ़ने के लिए अज्ञेय, मुक्तिबोध और त्रिलोचन की कविताओं का भी पाठक रहा हूँ । मुक्तिबोध और अज्ञेय की कविताओं से अधिक हरिवंश राय बच्चन और गोपाल सिंह नेपाली के काव्य को मैंने पढ़ा है । छन्द में बंधी कविताओं को पढ़ने का काव्यानंद कुछ और ही होता है, यही कारण है कि मैंने उर्दू के कवियों को भी खूब पढ़ा है । एक समय था जब मोमिन, नजीर अकबरावादी, मीर तकी मीर, जौक, सरदार जाफरी, 'अकबर' इलाहाबादी, जोश मलीहाबादी, फेज अहमद फैज की कविताओं को भी जी भर पढ़ा था, तब तो मैं उर्दू लिपि को पढ़ना-लिखना भी नहीं जानता था । आज भी हिन्दी और उर्दू के ये कवि मुझे पसन्द हैं, और इन्हें पढ़ने का मन करता है ।

डॉ. हरगानवी : आपकी पुस्तकों पर पुरस्कार ?

डॉ. अमरेन्द्र : हरगानवी साहब, आप किस पुरस्कार की बात रह रहे हैं । पुरस्कार दो वर्ग के होते हैं । एक तो वह है, जिसे सरकार या कोई संस्था अपने चुने हुए आदमियों को देती है, और दूसरा वह है, जिसे साहित्य के सच्चे साधक या देश की जनता देती है । इनके सामने पुरस्कार प्राप्ति के लिए पैरवी, गुटबंदी, धर्म, वर्ण की जरूरत नहीं होती है । मैं उन सौभाग्यशाली साहित्यकारों में हूँ जिसे सरकार या संस्था ने भले ही पुरस्कार नहीं किया हो, समाज ने मेरे साहित्य और साधना को सराहा है, यही मेरे लिए सबसे बड़ा पुरस्कार है, जिस पुरस्कार की बराबरी देश-विदेश का कोई सरकारी सम्मान किसी तरह भी नहीं कर सकता । यह आप भी खूब जानते हैं, मनाजिर साहब, कि सरकारी या संस्थागत पुरस्कार पाने की क्या शर्त्तें होती हैं, और तब ऐसे पुरस्कारों को पा लेने से ही क्या हो जाता है। विश्वविख्यात चिंतक ज्याँ पाल सात्र ने नॉवेल पुरस्कार को आलू का बस्ता कह कर ठुकरा दिया था, और भारत में प्रसिद्ध इतिहास लेखिका रोमिला थापर ने पद्मविभूषण का सम्मान लेने

से इनकार कर दिया था । आखिर क्यों ! पुरस्कार या सम्मान व्यक्ति के किए गए कर्मों से बड़े नहीं हो सकते। परिचय पर मिला हुआ पुरस्कार गौरव का बोध नहीं कराता, आजीवन ऋणी होने का बोध कराते रहता है । मेरा तो मानना है कि पुरस्कार का सम्मान साधना की निर्मल और वेगपूर्ण गति को बाधित ही करता है, दिशाहीन करता है । वैसे मेरे कथन का यह अर्थ लगाना कि सभी पुरस्कार सिर्फ परिचय की सीढ़ी पर चढ़कर आते हैं, गलत होगा ।

डॉ. हरगानवी : आपने अंगिका भाषा की समृद्धि के लिए बहुत काम किया है, आखिर लोकभाषा पर आपका ध्यान इतना ज्यादा क्यों है ?

डॉ. अमरेन्द्र : मनाजिर साहब, अंगप्रदेश सिर्फ बुद्धकाल में ही महाजनपद नहीं रहा, महाभारत काल में एक देश भी रहा है, और इस देश की संस्कृति, इसका ज्ञान, यहाँ की भाषा में निबद्ध है, अगर इसकी भाषा ही समाप्त हो जायेगी, इसके ज्ञान और संस्कृति की सुदीर्घ परम्परा ही जब विलुप्त हो जायेगी, तब किस तरह हम अंगवासी अपने ऊपर गौरव कर सकेंगे । यहाँ एक बात और बताना चाहूँगा कि अंगिका कोई सिर्फ अंगप्रदेश की भाषा नहीं है, यह भाषाओं की भी जननी है । विद्वान जिसे अर्द्धमागधी कहकर पुकारते हैं, वह अंगिका ही है। जब अंगप्रदेश मगध के अधीन हो गया, तो उसकी उपराजधानी अंग की चम्पा बनी, अंग से ही मगध का शासन होता था, इस तरह अंग अर्द्धमगध हो गया था, और इसकी भाषा अंगिका अर्द्धमागधी बन गई । मैंने इस तथ्य को विस्तार के साथ अपने एक लेख में उल्लिखित किया है । अंगप्रदेश के लघुआड़, वर्त्तमान में जमुई जिला में जन्म लेने वाले जैन तीर्थंकर महावीर ने अर्द्धमागधी को प्राचीनतम भाषाओं में गिना है, तब इस प्राचीनतम भाषा अर्द्धमागधी यानी अंगिका को बचाना क्या मेरा कर्त्तव्य नहीं हो जाता है?

डॉ. हरगानवी : शायद ही ऐसी कोई विधा हो, जिसमें आपने अंगिका का साहित्य नहीं लिखा। उपन्यास लिखा, कहानियाँ लिखीं, नाटक लिखे, महाकाव्य लिखा, खण्डकाव्य लिखा, समीक्षाएँ लिखीं, अखबार में फीचर लिखे और बाल साहित्य तो इतना लिखा कि भविष्य

में कोई आश्चर्य करेगा। अंगिका में क्या कुछ और लिखने का मन है ?

डॉ. अमरेन्द्र : बाल नाटक और बाल कहानियाँ लिखूँगा, अगर स्वास्थ्य ने साथ दिया तो। वैसे दो-एक बाल काव्यनाटक लिखे भी हैं, एकाध कहानी भी लिखी है, जो प्रकाशित हैं ।

डॉ. हरगानवी : अंगिका भाषा को संविधान में स्थान दिलाने के लिए लम्बे समय से संघर्ष चल रहा है, क्या ऐसा लगता है कि यह संभव हो सकेगा?

डॉ. अमरेन्द्र : इसको तो होना ही है, बस अंगिका चेतना को अंगप्रदेश में और प्रबल करने की जरूरत है । निराश होने की भी बात नहीं है क्योंकि अंगिका के पास कुन्दन अमिताभ, गौतम सुमन, डॉ. प्रदीप प्रभात, सुधीर प्रोग्रामर और राहुल शिवाय जैसे सैकड़ों लोग हैं । अब अंगिका पाँच दशक पूर्व की नहीं रह गयी है, सावन-भादो का गरजता-बरसता मेघ बन गई है। जिस अंगिका के साथ चन्द्रप्रकाश जगप्रिय जैसे अंगसपूत हैं, वहाँ किसी तरह की शंका ही क्यों ? राजनीति हमेशा के लिए अपने कानों पर अँगुली रखे सोई तो नहीं रह सकती ।

डॉ. हरगानवी : आपको साहित्यकार के किस खेमे में रखा जाए, अंतर्मुखी या वहिर्मुखी ? दोनों में श्रेष्ठ किसे आप मानते हैं ?

डॉ. अमरेन्द्र : मैं आज तक यह नहीं समझ पाया कि बाहरी दुनिया के बिना क्या कोई आंतरिक दुनिया भी बन सकती है, फिर जो आंतरिक दुनिया है, क्या वह बाहरी दुनिया को प्रभावित नहीं करती ? मुझे साहित्य में इस तरह का विभाजन अच्छा नहीं लगता । यह अलग बात है कि कोई लेखक बाहरी दुनिया के व्यवहारों के चित्रण में ज्यादा रूचि लेते हैं, कुछ आंतरिक हलचलों को व्यक्त करने में ही व्यस्त रहते हैं । लेकिन बढ़िया साहित्य तो वही है, जहाँ बाहरी और आंतरिक दुनिया को समान प्रतिष्ठा प्राप्त है । दरअसल, एक साहित्यकार का मुख्य काम चित्र-विधान का होता है, बाहरी दुनिया का चित्र खड़ा करना उतना कठिन नहीं है, अगर रचनाकार सावधान है तो, लेकिन आंतरिक दुनिया की हलचलों को चित्रबद्ध करना एक कठिन काम है, और यह साहित्यकार की विशिष्ट प्रतिभा की माँग करता है ।

डॉ. हरगानवी : अमरेन्द्र जी, आप अकेले ऐसे साहित्यकार हैं,

जिन्होंने भरपूर साहित्य लिखा है, और उसमें आधा तो बाल साहित्य का ही है । मैं नहीं जानता कि हिन्दी में ऐसा कोई साहित्यकार है जिसने इतना-इतना बाल साहित्य लिखा हो, अंगिका भाषा में तो नहीं ही है । बाल साहित्य के कवि-लेखक के रूप में क्या यह बताना चाहेंगे कि इस ओर आप कैसे आए ?

डॉ. अमरेन्द्र : मैंने अंगिका में बाल कविताएँ अपने बच्चों के मनोरंजन के लिए लिखना शुरू किया था । मैंने देखा कि उन कविताओं पर बच्चे खूब गुदगुदाते, खूब खिलखिलाते, तब न जाने कब, मेरा भी मन बालगीतों को रचने से बंध गया । फिर तो १९९३ से लेकर २०१० तक लगातार बाल गीत लिखता रहा ।

डॉ. हरगानवी : प्रकाशित बाल साहित्य में बालगीतों के कितने संग्रह हैं ?

डॉ. अमरेन्द्र : साढ़े छः । ढोल बजै छै ढम्मक ढम, बुतरु के तुतरु, एक छड़ी पर अण्डा नाचै, बाजै बीन बजावै तीन, तुक्तक मुक्तक, बाल कविताओं के संग्रह हैं और 'घटोत्कच' बाल खण्डकाव्य । 'अंगिका बालगीत' में कई बालगीत संग्रहित हैं ।

डॉ. हरगानवी : और 'बंटा' भी तो है ।

डॉ. अमरेन्द्र : हाँ, वह मेरा बाल उपन्यास है । कुछ बाल नाटक भी लिखने का मन है । एक लिखा भी है, चार और लिखने का मन है, सभी बुद्ध के जीवन से संबंधित होंगे । अगर लिख सका, तो पाँचों नाटकों का एक संग्रह प्रकाशित कराऊँगा, जिसका शीर्षक होगा 'पंचामृत'।

डॉ. हरगानवी : बाल साहित्य के लेखक के रूप में कभी आपने यह महसूस किया कि इस प्रकार का साहित्य लिखना बहुत कठिन नहीं, तो कठिन अवश्य है ?

डॉ. अमरेन्द्र : मैंने कभी नहीं यह महसूस किया । लेकिन हिन्दी में बहुत सारी बाल कविताओं को पढ़कर मुझे ऐसा लगता है कि बाल कविताओं का लेखन सबके बूते की बात नहीं ।

डॉ. हरगानवी : ऐसा क्यों लगा ? बाल कविताओं के सृजन के लिए आप रचनाकार में किन गुणों का होना आवश्यक समझते हैं ?

डॉ. अमरेन्द्र : बाल साहित्य के लेखकों को सबसे पहले अपने

वयस्क व्यक्तित्व के लवादे से मुक्त हो कर अपने बचपन में प्रवेश करना होगा । जिस लेखक में अपने बचपन को देखने-सुनने की जितनी तीव्र क्षमता होगी, वह उतना ही सुन्दर बाल साहित्य का सृजन कर पायेगा । कोई अच्छा बाल साहित्य बाल मनोविज्ञान पढ़कर नहीं लिखा जा सकता। यह बात तो अपने बचपन की दुनिया को ठीक-ठीक पढ़ने से ही बनेगी। बच्चे क्या चाहते हैं? ऐसी कहानी जो कौतुहल से भरी हो, गुदगुदाने वाली हो, और ये गुण जिस बाल साहित्य में हैं, वह सफल बाल साहित्य है । अगर इसमें कुछ संदेश भी है, तो उसे व्यंजना में होना चाहिए । हमें यह याद रखना चाहिए कि नैतिकता के पाठ से बच्चों का मन घबड़ाता है । दबाव से भले वे ऐसे साहित्य को पढ़ लें, सहज रूप से उनका मन ऐसे साहित्य में नहीं रमता । मैंने संदेशवाली जो भी बाल कविताएँ लिखी हैं, उनमें सीधे-सीधे संदेश देने से बचता रहा हूँ । संदेश है, तो छोटी-सी कहानी के सहारे, किसी घटना के उल्लेख से, जो कहानी या घटना बच्चों में गुदगुदी पैदा करती है, उन्हें हँसाती है । बालगीत हर हाल में आनंद प्रदान करने के लिए हो, इसके लिए यह जरूरी है कि गीत छन्द में हो, और छोटे-छोटे छन्दों में हो । भाषा सरल हो, आनुप्रासिक हो, बिम्बात्मक हो, जो बच्चों की कल्पनाशक्ति को जगाए। ध्वनियों-शब्दों की पुनरावृत्तियों के प्रति बच्चों में एक विशेष प्रकार का खिंचाव होता है, यह हमें समझना होगा । इतना ही नहीं, अगर बाल कविता में विचलन की मात्रा नहीं है, तो वह रोचकता को सृजित करने में असमर्थ होगी । कुत्ता भूँके, यह कोई बात नहीं हुई; कुत्ता मूसे से आदमी की तरह बातचीत करें, तो यह बात बच्चे को ज्यादा बाँधेगी । मैं समझता हूँ, जिस बालसाहित्य में ये सारे गुण हैं, वह साहित्य बालमन को बाँधेगा जरूर ।

डॉ. हरगानवी : आपने हिन्दी में भी तो बालगीत लिखे हैं । क्या एक दो कविता सुनाना चाहेंगे, अगर स्मरण में हों ?

डॉ. अमरेन्द्र : एक कविता याद है, यह कविता राजस्थान की एक बाल पत्रिका में प्रकाशित हुई थी । इसका शीर्षक है 'मूसामल' सुनिए,

चार दिनों से मूसामल,
ले आता था अपना दल ।

चावल-गेहूँ जी भर खाता,
बाकी ढोकर बिल ले जाता।
साहू जी का बोरा खाली,
बोरे में देखी सौ जाली ।
चितिंत साहू भागे दिल्ली,
ले आये अंगरेजी बिल्ली ।
मुसकल लाये जा केरल से,
दो जंगली कुत्ते जंगल से ।
झाड़ू लाया सिक्किम जाकर,
और गये फिर वो पोरबन्दर।
पोरबन्दर से भाला लाये,
बिल पर पहरेदार लगाये ।
और गये फिर खुद बाजार,
लाया ढो कर मूसामार ।
मूसामार मिलाया गुड़ में,
फिर आटा को डाला उसमें।
गोली क्या, गोला ले साहू,
दौड़ रहे थे बन कर राहू ।
बाहर में था सबका गश्त,
बिल में बैठा मूसा मस्त ।

डॉ. हरगानवी : बहुत खूब । आप को क्या लगता है, हिन्दी में बाल कविताओं की एक समृद्ध परम्परा है ?

डॉ. अमरेन्द्र : अगर समृद्ध परम्परा नहीं भी मिले, तो इससे कुछ होता जाता नहीं । जिन कवियों ने इस दिशा में लेखन किया है, वह बहुत उल्लेखनीय है । मैंने सबको पढ़ा तो नहीं है । हाँ, बालगीतों के कुछ कवियों को पढ़ा अवश्य है, इनमें सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, श्री प्रसाद, शेरजंग गर्ग, नरेन्द्र गोयल, दिविक रमेश, प्रकाश मनु, मधुसूदन साहा, अनिल शंकर झा प्रमुख हैं । इधर राहुल शिवाय ने हिन्दी में कुछ अच्छे बालगीत लिखें हैं । इनके बालगीतों का एक छोटा-सा संग्रह 'बाल बसन्त' के नाम से प्रकाशित भी हुआ है । अगर हिन्दी में बाल साहित्य

या कविताओं की समृद्ध परम्परा नहीं दिखती, तो इसका एक कारण यह है कि यहाँ बाल पत्रिकाओं का अभाव है, और अगर कुछ हैं, तो पाठकों की वहाँ तक पहुँच नहीं है । केन्द्र की सरकार हिन्दी के नाम पर करोड़ों-अरबौं रुपये को खर्चकर चुकी है, क्या ऐसी बाल पत्रिका का प्रकाशन नहीं करवा सकती, जो हिन्दुस्तान भर के बालकों को सहज उपलब्ध हो सके । अगर हो सका, तो हिन्दी को जड़ से मजबूत फिर हिन्दी दिवस और महोत्सव के नाम पर लुटाने की जरूरत भी नहीं होगी।

डॉ. हरगानवी : इन दिनों आप फेसबुक पर बहुत दिख रहे हैं, मेरा मतलब आप की कविताओं से है । एक साहित्यकार के लिए ऐसे सोशल मीडिया क्या महत्व रखते हैं ?

डॉ. अमरेन्द्र : अगर हम फेसबुक का गलत उपयोग ना करें, तो मैं समझता हूँ कि सामाजिक बदलाव की दिशा में भी यह क्रांतिकारी भूमिका निभा सकता है, लेकिन दुर्भाग्यवश ऐसा बहुत कम हो पा रहा है । फेसबुक पर अश्लील तस्वीरें, अभद्र बातें तक डालने में लोगों को कोई संकोच नहीं होता । कुछ लोगों ने तो इसे उगलदान बना रखा है, जो मन में आया, लिख डाला और पोस्ट कर दिया, बिना यह समझे कि इन्हें पढ़ने से पाठकों का क्या भला होगा । कविता की शक्ल में कुछ-से-कुछ पोस्ट कर देना, कुछ ने तो अपनी आदत बना ली है, बिना यह समझे कि कविता कितनी गंभीर और कलापूर्ण विधा है । इससे फेसबुक के प्रति अरुचि जरूर पनपती है, लेकिन जो इसके महत्व को समझते हैं और कविता के प्रति अपने दायित्व को भी, उनकी रचनाओं को फेसबुक पर पढ़ना अच्छा लगता है और तब फेसबुक का महत्व भी समझ में आता है । अगर फेसबुक का सहारा नहीं लिया होता, तो कल्पना मनोरमा, डॉ. विकल, ब्रजेन्द्र गर्ग, मुन्ना पाण्डेय, घनश्याम, रंजना गुप्ता, डॉ. पूनम अरोरा, कल्पना रामानी, मधु अग्रवाल, अर्चना झा, सोना श्री, दर्शन बेजार, अमन चांदपुरी जैसे महत्वपूर्ण कवियों की कविताओं से अपरिचित ही रह जाता। यह फेसबुक ही है कि मैं मुकुटधारी अग्रवाल जी के ज्ञान-भण्डार से परिचित हो पाता हूँ । व्यक्ति चाहे, तो फेसबुक के सहारे समाज और देश को एक भव्य व्यक्तित्व प्रदान कर सकता है।

डॉ. हरगानवी : कभी आपको अपने ऊपर हँसी आई ?

डॉ. अमरेन्द्र : मुझे तो नहीं आई, हाँ उन प्रसंगों को कोई सुने, तो हँसी आ जाए । एक घटना सुनाता हूँ । अखबार के आधे पृष्ठ पर एक युवक की तस्वीर छपी थी । बस यूँ ही, मैंने उसकी गर्दन पर एक अर्द्धचन्द्रकार की रेखा खींच दी । फिर कुछ ही क्षणों के बाद मुझे लगा कि मैंने तो उस युवक की गर्दन पर अस्त्र रख दिया है, और अब उसकी गर्दन कट ही जायेगी । तभी फिर कलम को उठाया और अर्द्धचन्द्र को गोलाई में बदल डाला, जिससे वह उस युवक के गले और कंधे पर रखा कोई बड़ा-सा चक्का दिखे । लेकिन तब भी मुझे लग रहा था कि वह चक्का नहीं, किसी का चला हुआ चक्र है, जिससे उसकी गर्दन बच नहीं सकती । और उसकी गर्दन को कुछ नहीं हो, इसलिए मैंने चक्के के भीतर वाले हिस्से के चारों ओर को मोतियों से घेर दिया कि वह मोतियों की माला बन जाए । और तब कहीं जाकर आश्वस्त हुआ कि अब उसकी गर्दन पर खरोंच भी नहीं आयेगी । आप ही बताइए, मेरे इस स्वभाव को जानकर कौन नहीं हँस पड़ेगा । शायद आप भी भीतर-भीतर हँस रहे होंगे।

डॉ. हरगानवी : नहीं अमरेन्द्र जी, मैं क्यूँ हँसूंगा । यह तो आप की गहरी भावुकता और संवेदना का प्रमाण है। आप की चित्रकारी के अच्छे नमूने ?

डॉ. अमरेन्द्र : आरम्भ में मैंने बहुत चित्र बनाए । ये चित्र ऐसे थे, जिनमें रंग नहीं थे । चित्रों में रंग भरने की रुचि मुझमें कभी नहीं रही, इसी से सीखने की जरूरत भी नहीं समझी । अगर चाहता, तो राम बाबू जैसे चित्रकार मेरे साथ थे । दिन में दस घंटे उन्हीं के साथ उठना-बैठना होता था । अब तो मेरे वे चित्र भी उपलब्ध नहीं, जो रेखाओं के थे । दो चित्र इसलिए बच गये कि वे आंगीप्रभा पत्रिका में प्रकाशित हैं । एक तो आंगीप्रभा के आकरण पर ही है जिसमें कई हाथ एक वृक्ष की जड़ों की शक्ल में दिख रहे हैं और एक हाथ तने और टहनियों के रूप में उठा हुआ है, जिस पर एक सूर्य दीप्त है । इसमें मैंने भारतीय संस्कृति की आत्मा को उभारने का प्रयास किया है । एक और छोटा-सा रेखा बच गया है, जिसमें मैंने कुछ विद्वानों के उस नजरिये को उभारने का प्रयास किया है, जो कलाओं के पीछे सिर्फ काम की प्रेरणा ही रूवीकार करते हैं।

डॉ. हरगानवी : आप का पसंदीदा चित्रकार ?

डॉ. अमरेन्द्र : एक समय था जब राजा रवि बर्मा मेरी चित्रकारी की आँखों में स्वप्न भरते थे । बाद में मकबूल फिदा हुसैन की चित्रकारी से मैं बहुत प्रभावित हुआ । उन्हें मैंने अपने एक सॉनेट में भी याद किया है ।

डॉ. हरगानवी : क्या वह सॉनेट याद है ?

डॉ. अमरेन्द्र : हाँ, सुनाता हूँ सुनिए,

इन्द्रधनुष पर रंगों का एक नृत्य मनोहर
अनजानी छवियों की छवियाँ पहचानी-सी
फूली सरसों की चूनर पर ज्यों घानी-सी
मुंदे नयन में कैसे वही दिखाती चीवर !
रामकथा का, कृष्णकथा का कितना कुशल चितेरा
लोकहृदय जिसकी कूची पर सँवरा करता प्रतिपल
जिसकी कला पहाड़ी सरिता कल-कल, खल-खल, निर्मल
घने कुहासों की रजनी में स्वर्णिम, शांत, सवेरा।
अद्‌भुत था वह कलाकार जो कभी-कभी ही आये
मन ने जो कुछ कहा, सुना, और रूप उसे दे डाला
नाद ओम का वही समझता जिसका हृदय शिवाला
रेखाओं की गूढ़ व्यंजना रूढ़ पकड़ न पाये ।
तुम्हे वही जानेगा जो न हिन्दू, बौद्ध, और जैन
चुने हुये पर कौन फिदा न होगा कहो हुसैन !

डॉ. हरगानवी : बहुत खूब । कोई पसंदीदा ख्वाइश ?

डॉ. अमरेन्द्र : हरगानवी साहब, जब मेरे छोटे भाई जितेन्द्र का निधन हुआ था, तब मेरी पत्नी ने हिन्दू रीति रिवाजों के अनुसार वह सब कुछ कराया था, जिससे समाज में कोई बदनामी न हो । बारह रोजों के संस्कारों में मुझे दस दिनों तक उबाला गया अरवा चावल खिलाया गया, जो चावल मेरे लिए इतना ही खतरनाक सिद्ध हुआ कि मत पूछिए । मैं दुर्निवार गैस का शिकार हो गया । माथा चकराते रहता और दवाइयाँ पेट में डालता रहता । यूँ समझिए कि मैं बच गया, वरना पत्नी के धार्मिक संस्कार के कारण मैं जितेन्द्र के साथ ही चला गया होता । सच कहता

हूँ यह हार्दिक इच्छा है कि मेरी मृत्यु पर किसी को भी ऐसी प्रताड़ना न दी जाए । उन्हें भूखा ना रखा जाए । उन्हें इतने दिनों तक शोक मनाने के लिए बाध्य ना किया जाए, फल या अरवा चावल पर ना रखा जाए। आज के आदमी के पास अब वैसे भी फालतू वक्त नहीं कि किसी की मृत्युकथा दुहराते रहे। मेरी मृत्यु की खबर किसी को ना दी जाय । दूर दराज बसी सन्तानों को परेशान ना किया जाय । अगर परिवार के लोग कर्मकाण्ड पर उतर ही जाएँ, तो एक दो रोज में आर्यसमाजी पद्धति से सब तुरत सम्पन्न हो । जो व्यक्ति जीवन भर कर्मकाण्डों की उपेक्षा कर के चला, उसकी मृत्यु पर कर्मकाण्ड का कोई आयोजन क्यों हो ? मैं किसी को बिना आहत किए बच्चे के कदमों की आहट की तरह चुपचाप दुनिया से निकल जाऊँ, मेरी यह ख्वाइश सारी ख्वाइशों पर भारी है ।

डॉ. हरगानवी : आप का पसंदीदा जानवर ?

डॉ. अमरेन्द्र : ऐसा कोई जानवर नहीं, जिसे मैं पसन्द नहीं करता हूँ, हाथी हो, सिंह हो, चीता हो, भालू हो, हिरण हो, बाघ हो, अन्दर हो, चाहे वह भैसा या साँढ़ ही क्यों न हो । लेकिन इन्हें पर्दे पर चलते, गुर्राते, दहाड़ते ही । या फिर मजबूत पिंजड़े के अन्दर । सभी जानवर मुझे किसी कलाकार के द्वारा चित्रों में उतारे हुए आकर्षित करते हैं । जंगल के जानवर तो भय को ही पैदा कर सकते हैं, और चित्रों में वे ही आनन्द के कारण बन जाते हैं। जंगल के जिन्दा जानवर तो शिकारियों को ही खुश कर सकते हैं, जो उनके प्राणों के हत्यारे हैं । और मैं ना उनके प्राण लेने की चाह रखता हूँ, ना प्राण गँवाने की । (उत्तर देने के क्रम में मुस्कुराते रहते हैं)

डॉ. हरगानवी : पसंदीदा चिड़िया ?

डॉ. अमरेन्द्र : जो चिड़िया छुप के बोलती है, वह मुझे बेहद पसन्द है । कोयल की आवाज मुझे इसलिए भी ज्यादा खींचती है, कि इसे मैं देख नहीं पाता । बस हवा में गूंजती रहती है उसकी आवाज कोयल की तरह एक ओर चिड़िया है, जो झुरमुट में बैठ कर आवाज करती है । आवाज इतनी मधुर कि मत पूछिए । किसी खाली घड़े या कलश में कोई-कोई कंकड़ी उसकी दीवारों से टकरा कर जैसे करती है । जब भी इसकी आवाज सुनी, कान वंशी की ध्वनि से भर गये । मैंने कई

बार इस चिड़िया की आवाज की ओर संकेत कर मित्रों से पूछा था उसका नाम लेकिन कोई न बता सका था । और एक दिन जब ओढ़य जानकीपुर से अनिल शंकर झा के साथ लौट रहा था कि रास्ते में उसी चिड़िया किसी वृक्ष पर नाचने लगी । मैंने अनिल जी से पूछा, यह किस चिड़िया की आवाज है और उन्होंने ही बताया है, यह तो मुरली पक्षी की आवाज है। मेरा मन उछल गया था । हाँ मुरली ही हो सकती है यह चिड़िया । आप दो तीन बार मुरली, मुरली मुरली कहें, ठीक ऐसी ही आवाज है, उस चिड़िया की । यह चिड़िया मुझे इसलिए भी पसन्द है कि इसके साथ अनिल शंकर झा का संरक्षण भी जुड़ा हुआ है । उस चिड़िया को देखा तो नहीं, पर इससे क्या होता है । जब बहुत दूर से किसी नदी के किनारे से पड़ोकी की आवाज आती है, तो मैं आप को बताऊँ कि मेरा मन किस समाधि में पहुँच जाता है । काश कौआ भी कोयल, मुरली पड़ोकी की तरह कहीं छुप कर आवाज करता, लेकिन कम्बख्त घर की छत पर या बगल के वृक्ष पर बैठ कर डीजे की तरह बजने लगता है।

डॉ. हरगानवी : पसंदीदा ड्रिंक ?

डॉ. अमरेन्द्र : किसी ने कहा है,

तौहीन ना कर शराब को कड़वा कह कर
जिन्दगी के तजुर्बे शराब से भी कड़वे होते हैं
कहते हैं पीने वाले मर जाते हैं जवानी में
हमने तो बुजुर्गों को जवान होते देखा है मैखाने में ।

डॉ. हरगानवी : हिन्दी में लिखे गये आप के अधिकांश काव्य मुक्तक काव्य ही हैं। इस मुक्तक काव्य में गीत भी हैं, सॉनेट भी। और इन रूपों में गीतों की संख्या सर्वाधिक है । अमरेन्द्र जी, गीतों के प्रति इस झुकाव के पीछे क्या कारण हैं ?

डॉ. अमरेन्द्र : इसका उत्तर तो यही हो सकता है कि मुझे विचारों से अधिक भाव प्रिय हैं, और जो भावप्रधान मुक्तक है, वही तो गीत है।

डॉ. हरगानवी : तो क्या भाव की प्रधानता ही गीत की शर्त है, इसके लिए संगीतात्मकता जरूरी नहीं ?

डॉ. अमरेन्द्र : है, लेकिन इसे सबसे महत्वपूर्ण स्थान देना गलत होगा । गीत के लिए जो जरूरी है, वह है, अनुभूति की रागात्मकता

अनुभूति की रागात्मकता का मतलब है कि यहाँ कवि की जो आत्मिक अनुभूति होती है, उसमें उबाल का होना जरूरी है, इसमें भावनाओं का प्रबल वेग होता है था। विचारों का नहीं । विचार तो वस्तुपरक मुक्तक में होता है, लेकिन गीतों में विचार को पकड़ने जैसी कोई बात नहीं होती, उसका हल्का स्पर्श भर होता है । भावदशा रसात्मक हुआ करती है और रस के लिए शृंगार, शोक, शान्त, वीर भाव ही अनुकूल हैं, इसी से गीत में इन्हीं भावों की प्रमुखता भी होती है ।

डॉ. हरगानवी : आपने तो एक प्रश्न के उत्तर में कई प्रश्नों को हल कर दिया । फिर भी मन में वह प्रश्न शेष ही रह जाता है । कि अगर गीत के लिए संगीत अनिवार्य नहीं है, तो हम किसी भी मुक्तक काव्य को गीत कह सकते हैं ?

डॉ. अमरेन्द्र : देखिए मनाजिर साहब, आप गीत के लिए संगीत पर बहुत बल दे रहे हैं, जबकि मैं इसे बहुत आवश्यक नहीं मानता । मैंने रेडियों पर एक गायक को रामधारी सिंह दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' के एक अंश को साज के साथ सुर में गाते सुना है, तो क्या 'कुरुक्षेत्र' गीतिकाव्य के अन्तर्गत आ जायेगा ? आप रेडियों पर तुलसीदास के रामचरित मानस को गाते हुए सुनते होंगे, तो क्या मानस गीतिकाव्य हो गया । इसमें कोई शक नहीं कि गीत को संगीत के साथ बनाए रखने के लिए एक कवि इसमें अन्त्यानुप्रास का विशेष तरीके से गुंफन करता है, तब भी यह कहा ही जायेगा कि संगीत गीत का अहम पक्ष नहीं ।

डॉ. हरगानवी : जैसा कि आपने पहले कहा कि गीत के लिए आत्मानुभूति, भाव की रागात्मकता जरूरी है, तो क्या अन्य मुक्तक विधा में ये तत्व नहीं होते ।

डॉ. अमरेन्द्र : होते हैं, लेकिन गीतों में इसकी प्रधानता होती है। गीत विषय प्रधान नहीं, विषयी प्रधान होता है । इसमें कवि का हृदय उफनता है, मस्तिक नहीं बोलता । विचार मस्तिष्क की सम्पत्ति है, जिसे वह गंभीर मनन के शांत क्षणों में प्राप्त करता है, गीत में तो भाव का उफान होता है, यहाँ उफान की शांति पर विचार का एक कोमल स्पर्श भर होता है । और यह कोई जरूरी भी नहीं कि यह विचार आए ही, कई गीत तो ऐसे भी मिलेंगे, जिनके अंत में विचार का हल्का स्पर्श भी नहीं

है, वह भाव के आवेग में ही लिपट कर रह जाता है ।

डॉ. हरगानवी : आपने गीत को विषय प्रधान नहीं, विषयी प्रधान कहा है। लेकिन 'दीपक मेघ हिण्डोल' में ही आपके ही कई गीत हैं जो देश प्रेम, प्रकृति सौन्दर्य से जुड़े हुए हैं, तो उन्हें गीत मुक्तक में रखें या नहीं ?

डॉ. अमरेन्द्र : यह तो आप ही बता सकते हैं, कि 'दीपक मेघ हिण्डोल' के ये गीत, गीत हैं कि नहीं । लेकिन, जिन गीतों को आप विषयप्रधान कह रहे हैं, वहाँ भी विषय की प्रधानता नहीं है । उन गीतों में विषय के प्रति कवि की रागात्मक अनुभूति इतनी प्रबल है कि विषय से अधिक भाव की प्रधान हो गया है । इसी से उन्हें गीत ना मानने का कोई आधार नहीं बनता । अगर ऐसा होता तो सूर ने कृष्ण के वियोग, राधा के जिन स्थितियों को दर्शाया है, वे गीत के विषय नहीं बनतीं । सूर ने राधा के वियोग को अपना वियोग बना लिया है । सूर के गीत लगते हैं विषय प्रधान , लेकिन अनुभूति की तन्मयता और रागात्मकता के कारण विषयीप्रधान हो गठे हैं, इसीलिए तो वहाँ इतना रस है ।

डॉ. हरगानवी : आप के गीतों के अभी तक तीन संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, 'देहरी पर दीया', 'मन गोकुल का गाँव' और 'दीपक मेघ हिण्डोल' और अगर सॉनेट को भी गीत विधा के अन्तर्गत रखा जाय, तो 'साधो सुर का देश' भी एक संग्रह बनता है । आप क्या कहेंगे ?

डॉ. अमरेन्द्र : इन संग्रहों में 'देहरी पर दीया' तो आधुनिक गीत योजना से अलग नवगीत संग्रह वस्तुपरक है, जिसके गीत नवगीत से भी भिन्न हैं । और 'साधो सुर का देश' मुक्तक संग्रह है, गीत संग्रह इसे नहीं मानता । नहीं मानता तो इसका भी एक साफ कारण है कि ये मुक्तक विषय प्रधान मुक्तक है, विषयी प्रधान नहीं ।

डॉ. हरगानवी : मैं आप से ही जानना चाहूँगा कि 'देहरी पर दीया' के नव गीत किस तरह आधुनिक गीत और नवगीत से भी भिन्न है ?

डॉ. अमरेन्द्र : खड़ी बोली हिन्दी में जिस गीत विधा का प्रचलन शुरु हुआ वहाँ छन्दों और अन्त्यानुप्रास का एक नियम-अनुशासन मिलता है । 'देहरी पर दीया' के गीत विशिष्ट छन्दों में बंधे नहीं हैं और न यहाँ

अनुच्छेदों के चरणों में समानता ही है । चरणों में मात्राओं का कोई मोह नहीं, बस जहाँ-तहाँ अन्त्यानुप्रास की योजना है । बाद में नवगीत के नाम पर जिन गीतों की रचना प्रारम्भ हुई, उनसे भी 'देहरी पर दीया' के गीत इसलिए भिन्न हैं कि नवगीतकारों ने गीतों को विषय प्रधान बनाने की कोशिश की, जबकि 'देहरी पर दीया' के गीत एकदम विषयी प्रधान हैं। अब गीत हैं तो विषयीप्रधान होंगे ही ।

डॉ. हरगानवी : आप कहते हैं कि नवगीतकारों ने अपने गीतों को विषय प्रधान होने की दिशा में मोड़ा, तो उन्हें गीत कैसे कहा जाए ?

डॉ. अमरेन्द्र : हाँ, नवगीत भी गीत इसलिए है कि यहाँ भी अनुभूति की रागात्मकता तो विशिष्टता में ही है। क्या अन्तर पड़ता है कि सूर के गीतों का विषय राधा का विरह है, और नवगीतकारों का विषय ग्रामीण परिवेश। नये बिम्बों-प्रतीकों को गढ़ने से कुछ नहीं होता है, अगर गीतों में भावों का उच्छवास नहीं है, वहाँ रसात्मकता नहीं है, तो वह न गीत है, न नवगीत ।

डॉ. हरगानवी : सिद्ध नवगीतकारों के रूप में आप किन-किन कवियों को पसन्द करते हैं ?

डॉ. अमरेन्द्र : राजेन्द्र प्रसाद सिंह, शंभुनाथ सिंह, चन्द्रसेन विराट, देवेन्द्र शर्मा इन्द्र, डॉ. मधुसूदन साह, मधुर कमल, बुद्धिनाथ मिश्र, नईम, माहेश्वर तिवारी, डॉ. शांति सुमन, नचिकेता, डॉ. यशोधरा राठौर ।

डॉ. हरगानवी : पहले गीत, फिर गजल, फिर नवगीत और गीत, इसके बाद सॉनेट । आप यह बताएँ कि गीत से चल कर सॉनेट पर आकर कैसे रुक गये ?

डॉ. अमरेन्द्र : रुक तो नहीं गया हूँ, लेकिन 'साधो सुर का देश' के बाद मेरा कोई संग्रह नहीं आया और न जम कर कुछ लिख ही पा रहा हूँ ।

डॉ. हरगानवी : इसीलिए तो कह रहा हूँ कि सॉनेट पर आकर कैसे रुक गए । अच्छा एक बात बताएँ कि सॉनेट की ओर आप आए कैसे ?

डॉ. अमरेन्द्र : आप को बताऊँ, जब मैंने प्रसाद जी की दो एक चतुर्दश पदियों को बहुत पहले पढ़ा था, तब यह भी नहीं जानता था कि

प्रसाद के ये मुक्तक दरअस्ल हिन्दी में सॉनेट का नया अवतार है । जहाँ तक मुझे याद आ रहा है कि प्रसाद के सॉनेट का रूप भी वही नहीं है, जो पैट्राकिचन सॉनेट या स्थेन्सेरियन सॉनेट के हैं या कि सेक्सपीरियन सॉनेट के । अगर प्रसाद के सॉनेट-सॉनेट हैं तो इसलिए कि वे चौदह पंक्तियों में हैं । बाद में प्रभाकर माचवे के एक दो सॉनेटों को पढ़ने का मौका मिला, तो मैंने भी उस समय ऐसे मुक्तक दो-चार मुक्तक लिखे । यह बात १९७४-७५ की है । जब अंगिका में नवगीत, माहिया, दोहे लिख रहा था, तब सॉनेट भी आठ दस लिखे । यह सन् २००१ की बात है । ये अंगिका सॉनेट व्यंग्य के हैं । तब पहली बार काव्य के इस रूप ने मुझे इतना बाँधा कि हिन्दी में भी चतुर्दश पंदियाँ लिखना शुरु की ।

डॉ. हरगानवी : आप अपने सॉनेटों का रूप-विधान स्पेन्सेरियन सॉनेट का ही प्रमुख रूप से रखा है क्यों ?

डॉ. अमरेन्द्र : आप 'साधो सुर का देश' के सॉनेटों को रचना विधान की दृष्टि से स्पेन्सेरियन सॉनेट की कोटि रखना चाहे तो रखें, लेकिन संग्रह के सॉनेट स्पेन्सेरियन सॉनेट से इसी अर्थ में साथ रखते हैं कि मैंने भी चार पंक्तियाँ की तीन चौपदियों के बाद एक द्विपदी को रखा है, लेकिन स्पेन्सेरियन सॉनेट और अमरेन्द्र के अन्त्यक्रम एक नहीं हैं । और यही भिन्नता मेरे सॉनेट को स्पेन्सेरियन सॉनेट से अलग करती है । वैसे भी हर कवि जब कभी किसी कविता के साँचे में अपनी बातें रखता है, तब वह अपने भाव के अनुकूल साँचे में कुछ-न-कुछ बदलाव कर लेता है । अब इसी कारण उस रूप को अनेक नामों से पुकारना कितना उपयुक्त है, मैं नहीं कह सकता । काव्य में जिसे सॉनेट कहते हैं, उसकी आखरी और अन्तिम पहचान है, उसकी चौदह पंक्तियाँ, जिसे किसी भी समझदार कवि ने नहीं तोड़ा ।

डॉ. हरगानवी : आपने भी सॉनेट में कुछ प्रयोग किए हैं, इसके अन्त्यानुप्रास को लेकर ।

डॉ. अमरेन्द्र : हाँ, एक सॉनेट है, जिसका शीर्षक 'बुढ़ापा' है, वहाँ अन्त्यानुप्रास आपको नहीं मिलेगा । कुछ ऐसे भी सॉनेट लिखे थे, जो छः पंक्तियों के दो षट्षदी ओर एक द्विपद्वी के थे ।

डॉ. हरगानवी : हिन्दी में सॉनेट के सबसे बड़े कवि त्रिलोचन

समझे जाते हैं । उसका सॉनेट संग्रह 'उस जनपद का कवि हूँ' बहुत लोकप्रिय हुआ है । जहाँ तक मेरी जानकारी है, इसके बाद 'साधो सुर का देश' ही हिन्दी का दूसरा ऐसा सॉनेट संग्रह है, जिसमें १२७ सॉनेट सिर्फ हिन्दी के ही हैं। 'उस जनपद का कवि हूँ' ओर 'साधो सुर का देश' में कोई विषयगत या रूपगत भेद ?

डॉ. अमरेन्द्र : मैं सिर्फ अपने सॉनेट की बात करूँगा । 'साधो सुर का देश' के अधिकांश सॉनेटों का स्वर व्यंग्य का है, बाद में करुणा का । लेकिन इन्हीं स्वरों के बीच एक ऐसा भी स्वर है, जो आशा और विश्वास का भी है, जो बाद में लिखे गये सॉनेटों का स्वर है । जहाँ तक रूप की बात है, इस पर पहले भी मैं कह चुका हूँ । एक बात और जो बताना चाहूँगा, वह यह कि मैं अपने सॉनेटों में पादांतर प्रवाहिता से बचना रहा हूँ । एक पंक्ति दूसरी पंक्ति में जा कर समाप्त हो, यह हिन्दी छंदशास्त्र से अनुमोदित नहीं, फिर भी प्रसाद जैसे कवि की कविताओं में पादांतरवाद ही पंक्तियाँ हैं । त्रिलोचन के सॉनेटों में भी यह बात देख सकते हैं । 'साधो सुर का देश' में यह एकाध कहीं दिख जाय तो दिख जाय, इसे शैली के रूप में स्वीकार नहीं किया है ।

डॉ. हरगानवी : आप अपना कोई एक प्रतिनिधि सॉनेट सुनाना चाहेंगे ?

डॉ. अमरेन्द्र : क्योंकि नहीं, सुनिए !

अखबारों में, विज्ञापन में छायी है खुशियाली
वहाँ जहाँ अब भय से सबकी घिग्घी बंधी हुई है
कांधे पर कर्जे की भारी गठरी लदी हुई है
इस अकाल में भला दिखेगी कैसे तो हरियाली !

रामराज के पीछे-पीछे लगी हुई रंगदारी
बदहवास-सा देखा श्रम को शहरों और गाँवों में
धूप जेठ की, चौपड़ खेले बरगद की छाँवों में
उबा हुआ संसार जरा था, ज्यादा थे संसारी ।

विज्ञापन में जो गरीब तो मंत्री और विधायक

सांसद-सेठ और भी नीचे, श्रमिक धनिक हैं दिखते
लिखने वाले भाग्य प्रजा के कैसे-कैसे लिखते
रंगा हुआ है काले रंग में रंगमंच का नायक ।

धनकोषों में धन, कुबेर का, कोसों कोस जमा है
इधर सकीचन का अब तक भी खाली ही बटुआ है।

डॉ. हरगानवी : बहुत खूब ! आपने काव्य-सृजन भी शुरू किया तो बंधे हुए छंदों से, उसमें भी वार्णिक छंदों से, जो पूरी तरह लघु-गुरू के नियमों से बंधे हुए हों, फिर आप मुक्त छंद की ओर कैसे आ गये। 'जनतंत्र का विक्रमशिला' की कविताएँ छन्दबद्ध नहीं हैं और इसके बाद आप फिर छंदों की ओर लौट आए, अगर छिटपुट उदाहरणों को छोड़ दे, तो क्या मैं समझूँ आपको मुक्त छंद से कोई लगाव नहीं, जबकि आज की अधिकांश कविताएँ मुक्त ही होती हैं, छंदबद्ध कम। इस संबंध में आप क्या कहना चाहेंगे?

डॉ. अमरेन्द्र : मुक्त छंद की कविताओं के प्रति मेरा आकर्षण कभी नहीं रहा। जिस समय में जनतंत्र का 'विक्रमशिला' की कविताओं को लिख रहा था, उसी समय मैंने चंद्रशेखर आजाद पर एक प्रबंध काव्य की रचना की थी, जो छंदबद्ध था। जनतंत्र का 'विक्रमशिला' की कविताएँ 'आपातकाल' में रची गयी थीं। जब निश्चिंत होकर रचनाएँ रचना संभव ही नहीं था। गोष्ठियों में देश की स्थितियों के बारे में बताना भी था, तब यही संभव था कि मुक्त छंद की रचना की जाय, जो विचारों से पूर्ण काव्य की भाषा से गठित हो। आपातकाल के बाद मैंने मुक्त छंद की कविताओं से मुक्ति ले ली, भले ही आज का युग मुक्त छंद की कविताओं का क्यों न रहे। हरगानवी साहब, आज मुक्त छंद के पक्ष में बहुत दलीले दी गई है, जैसे कि कविता में भावों की लय का होना ही पर्याप्त है, छंदों की लय का नहीं। छंद तो पुराने जमाने की चीज हो गई, जब मुद्रण कला का विकास नहीं हुआ था, तब कविता याद हो सके, इसलिए छन्दबद्ध होती थी, अब तो लोग पढ़ते हैं, किसी से सुनते नहीं। अब ऐसे विद्वानों को कौन समझाएँ कि तब कविताएँ छंद के कारण कंठस्थ रहती थीं कि कागज की बर्बाद नहीं होती थी, कम किताबें छपती

थीं, तो वृक्ष कम कटते थे, ये जब से कविताएँ पढ़ने की चीज हो गयी हैं, वृक्षों का बहुत नुकसान हुआ है। मैं पूछता हूँ, कविता में कहानी नहीं है क्या, नाटक नहीं है क्या? उपन्यास नहीं है क्या? रामचरित मानस क्या है, उपन्यास ही तो है। आज भी गाँव में ऐसे लोग मिल जाएँगे, जिन्हें पूरी रामायण याद है। मैं तो कहूँगा कि गद्य की जगह छन्दबद्ध काव्य को बचाने की पहल हो और जो मुक्त छंद के समर्थकों की भीड़ जम गई है, उनके असली मकसद को उजागर करना चाहिए। सच पूछिए तो मुझे इस छंदहीनता में आज के परिवेश में टूटते मूल्यों की छाया ही नजर आती है।

डॉ. हरगानवी : आपको विश्वास है कि कविता छंदों की ओर लौटेगी?

डॉ. अमरेन्द्र : व्यक्ति का स्वभाव है कि वह संगीत से कट कर नहीं जी सकता है। शोरगुल में कुछ देर जीना पड़ जाए, तो अलग बात है। मुझे विश्वास है कि कविता के डीजे का जमाना जल्द ही जाने वाला है और छन्दबद्ध कविता की बांसुरी फिर बजेगी, उसे बजना ही है। कौन जानबूझ कर पागल होना चाहता है। मनाजिर साहब, कविता का लक्ष्य मनुष्य को शांति, संवेदनाओं से जोड़ना है। मुक्त छंद की कविताओं की जरूरत लोगों को क्यों पड़ी, ताकि भाषणबाजी कर सके और कविता को इस तरह मुक्त करने से जानते हैं, क्या हुआ, हर घर में दो-एक कवि हो गये। छंद की पाबंदी थी कि किसी एक गाँव या नगर में दो-एक सिद्ध कवि हो पाते थे। किसी को विश्वास हो न हो, मुझे विश्वास है कि कविता फिर छंद की ओर लौटेगी। गीत का विरोध करने वाले नवगीत लिखने लगे, दोहा लिखने लगे, गजलें कहने लगे। बेतुके तुक जोड़ने लगे। आखिर में सब किस भविष्य की ओर संकेत करते हैं?

डॉ. हरगानवी : गजल की बात कही है, तो यह भी पूछ लूँ कि आप के पसंदीदा गजल गायक कौन हैं?

डॉ. अमरेन्द्र : कई हैं, गुलाम अली, मेंहदी हसन, जगजीत सिंह, बेगम अख्तर की गायकी का तो मैं गुलाम ही हूँ। इन गायकों ने अपनी गायन शैली से गजल को नई पहचान दी, वरना गजल भी गीत की तरह ही लगती रही।

डॉ. हरगानवी : अब यह भी बता दीजिए कि आप किस तरह

की म्यूजिक पसंद करते हैं?

डॉ. अमरेन्द्र : यह प्रश्न आपका बहुत अच्छा लगा। एक तो मैं उस संगीत का पसंद नहीं करता, जो शोर से जन्मा हुआ हो। दूसरा यह कि वह संगीत उदासी के आनंद से कटा हुआ नहीं हो। उदासी के आनंद से मेरा मतलब उस संगीत से है, जो चेतना को आनंद उठाने लायक बना रहने दे। शोर और अत्यधिक करूणा का संगीत चेतना को निष्क्रिय कर देते हैं।

डॉ. हरगानवी : आज के संगीत पर आप कैसी प्रतिक्रिया करेंगे?

डॉ. अमरेन्द्र : मनाजिर साहब, यह देखकर बहुत दुख होता है कि भारत ने सदियों की साधना के बाद जिस संगीत के सुरों को सजाया था, उन्हें रौंदा जा रहा है। जानबूझ कर उसकी जगह में पाश्चात्य के शोर को स्थापित किया जा रहा है। यह शोर हमारे लहू को उत्तेजित कर रहा है, जिसमें नई पीढ़ी आनंद की तलाश कर रही है, जिसे यह नहीं मालूम कि यह संगीत हमारे मस्तिष्क के तंतुओं को तोड़ रहा है और इसका दुष्परिणाम बहुत भयंकर हो सकता है, जिसका परिणाम समाज में दिख भी रहा है, अपराध की इतनी सारी कोटियाँ उभर आई हैं, उनमें संगीत के शोर का भी हाथ है। अपने यहाँ संगीत की साधना शांति और पवित्रता के प्रकाश के लिए होती थी। जिस संगीत के संकेत पर ऋतुएँ अपनी गति बदल देती थीं। संगीत के शोर ने हमारे लोकगीतों को ग्रस लिया है। कभी गाँव के टोले में जब मनौन या विवाह के गीत गूँजते थे, तब प्राणों में निर्मलता की गंगा लहराती थी। अब तो गंगा ही गंदी हो गयी है, तब संगीत के बारे में क्या सोचे। लेकिन गंगा के दूषित होने या सूखने का अर्थ आप भी समझ रहे होंगे, यह संगीत का शोर नहीं रुका, तो एक दिन समाज की समाधियाँ जगह-जगह पर मिलेंगी।

डॉ. हरगानवी : जब लोकगीत की बात आई है, तो आप यह बता दें कि गीत और लोकगीत में क्या अंतर है, यह भी कि लोकगीत और लोकगाथा में क्या भेद है?

डॉ. अमरेन्द्र : गीत का रचयिता कोई निश्चित कवि होता है, जबकि लोकगीत की रचना किसी एक व्यक्ति की नहीं, वह समाज के द्वारा सृजित है। जब एक लोकगीत किसी एक व्यक्ति से गढ़ा जाता है

और समाज के लोग अपने-अपने ढंग से उसमें क्रम जोड़ते चले जाते हैं, तब गीत, लोकगीत बन जाता है, लेकिन आरंभ में वह गीत ही होता है। और जहाँ तक लोकगाथा का प्रश्न है, उसे हम जनभाषा का महाकाव्य कह सकते हैं, लेकिन महाकाव्य और लोकगाथा में कुछ अंतर भी हैं, शिष्ट महाकाव्य किसी विशेष व्यक्ति की कृति होती है और लोकगाथा के विकास में लोक का योगदान होता है, भले ही वह किसी एक व्यक्ति द्वारा किसी समय में लिखा गया हो, लेकिन लोक की सहभागिता के कारण उसका मूल सुरक्षित नहीं रह पाता। नहीं तो महाकाव्य और लोकगाथा दोनों कथात्मक होते हैं, पर महाकाव्य गेतात्मक हो यह कोई जरूरी नहीं, जबकि लोकगाथा गेयात्मक ही होगी, जो परंपरा से लोककंठों में सुरक्षित होती है और उसमें नया जुड़ता भी रहता है। महाकाव्य में ऐसा संभव नहीं। यह अलग बात है कि जब लोकगाथा मुद्रित हो जाती है, तब उसका रूप भी एक तरह से स्थिर हो जाता है।

डॉ. हरगानवी : एक सवाल जो आजकल खूब आम है, आप बताएँ कि क्या हिन्दी नवजागरण, औपनिवेशिक मानसिकता के विरूद्ध हमारे बौद्धिक संघर्ष और मुक्ति-कामना का द्योतक है?

डॉ. अमरेन्द्र : यह बात बहुत हद तक सही है। लेकिन इसे सीधे-सीधे स्वीकार कर लेना ठीक नहीं होगा। हिन्दी के आधुनिक काल में जो नवजागरण के स्वर सुनाई पड़ते हैं, उसके मूल में बदली हुई परिस्थितियाँ भी थीं। एक तो इस पर मध्यकाल के संत काव्य का प्रभाव काम कर रहा था और इसी तरह अंग्रेजों की वैज्ञानिक संस्कृति और सभ्यता का भी दबाव था। अंग्रेजों की आधुनिक आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षिक, औद्योगिक व्यवस्थाओं ने भारतीयों को प्रभावित ही नहीं किया था, बल्कि यह सोचने के लिए बाध्य भी कि उनकी बुरी स्थितियों के कारण क्या हैं। तब उनका ध्यान उन मध्यकालीन संत कवियों पर विशेष रूप से गया, जो समाज में फैली दूषित परंपराओं और अमानवीय सामाजिक व्यवस्थाओं पर लगातार प्रहार कर रहे थे। हिन्दी साहित्य में जिस नवजागरण की चर्चा बार-बार उठाई जाती है, उसका एक छोर उन्हीं मध्यकालीन संत कवियों के काव्य से बँधा हुआ था और दूसरा छोर औपनिवेशिक व्यवस्था से मुक्ति की छटपटाहट से जुड़ा हुआ था। उस

युग के साहित्यकार देश और देशवासियों की दुर्दशा से आहत हो ही रहे थे, सिर्फ समाज सुधारक ही नहीं हो रहे थे, और इसके लिए जिम्मेदार अंग्रेजों के विरूद्ध हिन्दी में एक खास तरह की राष्ट्रीय चेतना का विकास हो चला था। यह चेतना भारतेन्दु से लेकर निराला, प्रसाद तक में मुखर-अमुखर रूप में उजागर हो रही थी।

डॉ. हरगानवी : अमरेन्द्र जी, आप यह बताएँ कि साहित्य सामान्य जन को पीड़ित करने वाली शक्तियों के प्रतिपक्ष में खड़ा अजेय शक्ति-शिखर है, कैसे?

डॉ. अमरेन्द्र : मुझे लगता है कि साहित्य हमेशा से ही सामान्य जन को पीड़ित करने वाली शक्तियों के प्रतिपक्ष में शामिल अजेय शक्ति है, तभी तो साहित्य जन सामान्य के बीच इतना लोकप्रिय रहा है। साहित्य को अगर बचाया है, तो जनसामान्य ने ही। यह अलग बात है कि कभी-कभी किसी काल में जनसामान्य की पक्षधारता का स्वर साहित्य में दब-सा गया है, लेकिन फिर तुरंत ही यह प्रबल भी हो उठा है। आज का साहित्य तो पूरी तरह से आमजन के पक्ष में वकालत करता साहित्य है। प्रयोगवादी, नकेनवादी, अकनितावादी के अगर छोड़ दें, तो आधुनिक समय में सारा का सारा हिन्दी साहित्य जनसामान्य के हित के विरोध में खड़ी शक्तियों के विरोध में खड़ा प्रतिपक्ष का ही साहित्य है। इसमें मार्क्सवादी विचारों के साहित्यकारों की भी भूमिका रही है, लेकिन पूरी तरह से इसे ही स्वीकार करके चलना गलत होगा। जब स्वरह, कबीर, तुलसी आमजन के पक्ष में रचनाएँ कर रहे थे और सामाजिक-रूढ़ियों पर प्रहार कर रहे थे, तब उनके सामने कौन-सा मार्क्सवादी सिद्धांत था। दरअसल एक सच्चा साहित्यकार अपने साहित्य में मानवतावाद की ही स्थापना के लिए बेचैन रहता है और ऐसा ही साहित्य शक्ति का स्रोत-शिखर भी होता है। साहित्यकार हमेशा ही अपमूल्यों के विरोध में ही खड़ा रहता है, जो ऐसा नहीं है, वह साहित्यकार नहीं है।

डॉ. हरगानवी : आज के जीवन और साहित्य में आधुनिकता का तेवर क्या पश्चिम से उधार है?

डॉ. अमरेन्द्र : बहुत से लोग ऐसा ही मानते हैं, लेकिन इस विषय पर बहुत गहराई से विचार करें तो स्पष्ट होगा कि भारत में आधुनिकता

कोई नई चीज नहीं है, यह अलग बात है कि यहाँ आधुनिकता हर दशक में बदलने वाली चीज नहीं रही है। आधुनिकता, जो हमारी बुद्धिवादिता का द्योतक है, वह कई शताब्दी से पूर्व भी रही है। आज भले ही हमारी बुद्धि ईश्वर को मरने की घोषणा करे, इसकी झलक तो हमें भारत के चार्वाक-दर्शन में ही मिलती है। हम जिस लोकायत को जानते हैं, वह अपने बुद्धितत्व के कारण ही अपनी और इतना आकर्षित करता है। दरअसल, आज हमारी हालत परमुखाक्षी की हो गयी है। पश्चिम की ओर लोभ की आँखों से निहारने की हमें आदत हो गयी है। अपने यहाँ बुद्धि और हृदय के बीच लगातार द्वन्द्व होता रहा है, कभी उग्र रूप में, कभी शीत युद्ध के रूप में, लेकिन यह संघर्ष होता रहा है अवश्य। कबीर ने बुद्धिवाद का विरोध करते हुए लिखा-

प्रेम न बाड़ी उपजै प्रेम न हाट बिकाय
राजा-परजा जेहि रुचै शीष देय ले जाय

प्रेम यानी ईश्वर की प्राप्ति तो उसे ही हो सकती है, जो शीश दे सकता है, उसे अलग रहता है। रामधारी सिंह दिनकर की 'उर्वशी' में भी बुद्धि और हृदय का यह द्वन्द्व देखा जा सकता है। यहाँ हम यह स्मरण रखना चाहिए कि आधुनिकता सिर्फ बुद्धि तत्व का रसायन नहीं है, यह बहुत कुछ संशलिष्ट रूप है। व्यक्ति की स्वतंत्रता, सामूहिकता, परपंरा, आस्था की अवहेलना, मनुष्य के जीवन का अकेलापन, अलगाव और भी बहुत कुछ इसमें समाविष्ट है, और अगर आप हिन्दी साहित्य में जिस अकहानी, अनाटक, अकविता को पश्चिम का उधार मानते हैं, तो मैं इसे शायद स्वीकार नहीं करूँगा। इस अकहानी, अकविता के पीछे किसी बाहरी आंदोलन का अनुकरण एक-दो प्रतिशत ही होगा, यह आंदोलन, जो आंदोलन भी नहीं बन सका, दरअसल, भारतीय प्रवधि की असफलता के कारण जन्मा हुआ असंतोष था। लेकिन यह भी नहीं है कि कुछ साहित्यकारों पर पश्चिम की आधुनिकता का बल अधिक था और वे ऐसी आधुनिकता को अपने साथ ही लेकर चले गये।

डॉ. हरगानवी : मैं एकाध सवाल और पूछूँ, इसके पूर्व आप अपना कोई एक ऐसा गीत सुनाएँ, जो आप के दिल के बहुत करीब हो।

डॉ. अमरेन्द्र : मेरे सभी गीत मेरे दिल की धड़कनें हैं, एक सुनाता

हूँ, सुनिए !

जो भी आए, आएंगे दो-चार, हमारे बाद
गूंजेंगे फिर बागों में गुंजार, हमारे बाद !

बहुत घृणा थी, नफरत जग में
मैंने सबको प्यार सिखाए
लोग लहू के प्यासे थे पर
मैंने गीत प्रीत के गाए,
पत्थर मन पिघलेंगे सबके
आज नहीं तो कल मानेंगे, प्यार, हमारे बाद !

रेत-रेत थे प्यासे-प्यासे
मैंने नदी उठाई, लाई
जिसके शीतल जल को छूकर
छूट गई सूखी सब काई
छाया छूटेगी जब मेरी
तब रोएंगे रेत, नदी की धार, हमारे बाद !

लेकिन कोई भी रोए क्यों
जग को अमृत दान दिया है
निकला था मन्थन में जो विष
उसका हमने पान किया है
कभी न मुरझेंगे पलाश ही
खूब खिलेंगे सालों भर कचनार, हमारे बाद !

डॉ. हरगानवी : अद्‌भुत ! बहुत खूब ! अमरेन्द्र जी, अब मेरे जिए नहीं, पाठकों के लिए अपनी कोई एक प्रतिनिधि गजल भी सुना डालिए, जो रंग आ जाए ।

डॉ. अमरेन्द्र : आपने मेरे मन की बात उठा ली । एक गजल सुनाता हूँ, जिसे मैंने मित्र 'विशाल' के घर पर हुई कवि गोष्ठी में पहली बार सुनाई थी । यह बात आज से तीन दशक से भी पूर्व की है । संभवतः १९८४ का अगस्त माह था । यह गजल मैं भूल नहीं पाता । सुनिए !

स्याही से बैठे-बैठे मत दीवारों पर काला लिख
इन अंधेरी रातों में केवल तू एक उजाला लिख
जहाँ-तहाँ बिन सोचे-समझे यूँ ही नहीं 'बटाला' लिख
लिखना है तो उसी जगह पर यार तू 'जलियाँवाला' लिख
उनसे ही जा के तुम पूछो शीतलता कैसे आए
जो कहते हैं तुमसे केवल लिखो अगर तो ज्वाला लिख
मत लिख तुम ये लोभ के मारे, यह सियार की माँद-गुफा
दिखता है यह साफ शिवाला इस पर साफ शिवाला लिख
बहुत लिखे तुम दीवारों पर नाम सियासत वालों के
अब तुम इन नामों के बदले नाम 'नजीर' 'निराला' लिख
लिखना बाद में दिखता है यह वैसा-ऐसा उपमा में
पड़े हुए पाँवों के छाले को पहले तू छाला लिख
आने दो मजबूब वक्त वह जब बोलूंगा मैं तुमसे
मेरे लब पर लिखो तिश्नगी अपने लब पर प्याला लिख
सत्ता का अधिकारी बन जुम्मन जमीन को हड़प गया
प्रजातंत्र की जनता भटकी फिरती बन कर खाला लिख
जिस तरह रह रहा हूँ मैं अपने ही देश में ऐ यारो
लिखना अगर तखल्लुस मेरा तो फिर देशनिकाला लिख।

डॉ. हरगानवी : और आखिर में एक और सवाल, क्या आप अपनी जिन्दगी से खुश हैं ? क्या कोई बात परेशान करती है ?

डॉ. अमरेन्द्र : हूँ भी, नहीं भी हूँ । मेरा जीवन सिर्फ मेरे परिवार से जुड़ा हुआ नहीं है, मित्रों तक सीमित नहीं है, यह मेरे समाज, मेरे देश और पूरी दुनिया से जुड़ा हुआ है । आज जिस तरह से प्रायः दुनिया आतंकवाद के दैत्य की मुट्ठी में कसती जा रही है, उसे देखकर एक संवेदनशील व्यक्ति किस तरह खुश रह सकता है, विशेष कर साहित्यकारों-कलाकारों का समाज । आज अपने देश में भी आतंक कम मजबूत नहीं हुआ है । औरतों के प्रति अत्याचार खूंखार हुआ है, वर्ण-व्यवस्था ही उम्र बढ़ी जा रही है, भेद की राजनीति भी प्रबल हुई है। और जब हमारे समाज की ऐसी स्थिति हो, तो मैं अपनी जिन्दगी से खुश कैसे हो सकता हूँ ? आखिर हम सबका जीवन तो समाज से ही संजीवनी

पाकर फलता-फूलता है । देश में शंकाएँ बढ़ी हैं, अविश्वास बढ़ा है और राजनेता इसे अपनी-अपनी कुर्सी तक पहुँचने के लिए सीढ़ी बना रहे हैं । ये स्थितियाँ किसी को भी परेशान करती होंगी, मुझे भी परेशान करती हैं। खास कर तब और भी, जब संवेदना और नीति के रक्षक भी उन राजनेताओं के साथ हो जाते हैं । लेकिन इन सब से अलग एक व्यक्तिगत क्षति भी हें, जिसकी स्मृति आते ही मैं बहुत परेशान हो उठता हूँ, वह है, मित्र अंजनी कुमार विशाल का असमय में दुनिया को छोड़ जाना। दुर्दिन के दैत्य से लड़नेवाला मेरा यह मित्र अपने मिजाज में किसी बादशाह से कम नहीं था । ऐसा खुशमिजाज मेरा एक भी मित्र नहीं, जैसा वह था। अभाव उसके हौसलों को कभी पस्त न कर सका । व्यक्तित्व से वह वसन्त था, ओर कलम से वैशाख । मित्रों के लिए वह सब कुछ सह जा सकता था । जब वह राजहंस पत्रिका निकालने में व्यस्त था, मैंने उससे कहा था कि वह अपनी जीवनकथा सबसे पहले लिखे, और उसे अपनी पत्रिका में धारावाहिक रूप से प्रकाशित करे, लेकिन उसने यही कहा था कि लिखूँगा, तो सबसे पहले अमरेन्द्र पर लिखूँगा और उसे किसी अंक में छापूँगा । लेकिन वह अंक ना निकल सका, क्योंकि विशाल अपने मित्रों को छोड़ कर दुनिया से ही निकल गया था । आज उसके सभी मित्रों के पास उसकी ढेर-ढेर कहानियाँ धरोहर रूप में सुरक्षित हैं । अपनी मृत्यु के दो-तीन दिन पहले ही तो वह अपने जन्मदिन की खुशियाँ बाँट कर आया था, और हठात् ही वह अपनी मृत्यु की भयावह खबर अपने पीछे छोड़ गया ।

❐❐

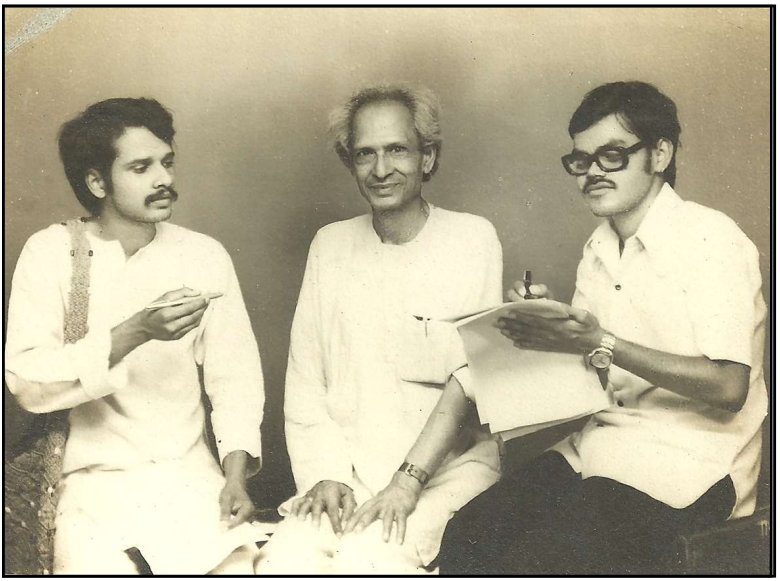

(चित्र ढाई दशक पूर्व का) कविवर आरसी प्रसाद सिंह के साथ ।
बाँये से : श्रीचंद, आरसी प्रसाद सिंह, अमरेन्द्र

बायें से : रंजन, डॉ. अमरेन्द्र, राजेन्द्र यादव, शिव कुमार शिव और प्रसून लतांत

डॉ. अमरेन्द्र को सम्मानित करते वरिष्ठ पत्रकार मुकुटधारी अग्रवाल (बाँये से प्रथम)

बाँये से : डॉ. अमरेन्द्र, डॉ. डोमन साहु 'समीर', अनिरूद्ध प्रसाद 'विमल'

बाँये से : डॉ. अमरेन्द्र, हरिराम पाण्डेय, डॉ. विजयेन्द्र स्नातक, डॉ. तपेश्वरनाथ, डॉ. शशिभूषण 'शीतांशु'

डॉ. अमरेन्द्र कृत धारावाहिक रेडियो नाटक 'अंगदेश का अमृत-मंथन' में भाग लेते भागलपुर आकाशवाणी के कलाकारों के साथ । दाँये से तीसरे डॉ. अमरेन्द्र

बाँये से : डॉ. श्याम लाल आनन्द, राजेन्द्र प्रसाद सिंह, डॉ. अमरेन्द्र और रंजन ।

बायें से डॉ. अमरेन्द्र, कथाकार गिरिराज किशोर और शिव कुमार शिव

बायें से चन्द्रप्रकाश 'जगप्रिय', डॉ. अमरेन्द्र और सुधीर कुमार प्रोग्रामर

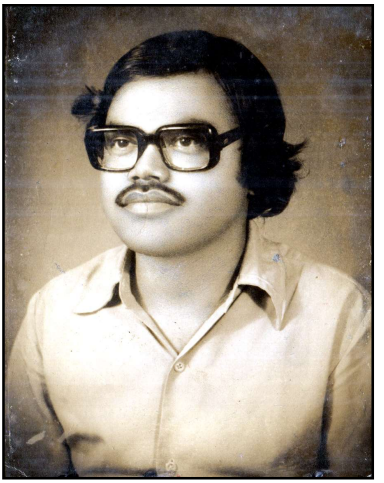

ई. १९७२

बायें से प्रख्यात उर्दू साहित्यकार डॉ. मनाज़िर आशिक़ हरगानवी के साथ डॉ. अमरेन्द्र